

अपरिग्रहवादः

एक तुलनात्मक अध्ययन

[दार्शनिक विवेचन]



रघुवीरशरण दिवाकर

प्रकाशक

श्याम सुन्दर दिवाकर
मानव साहित्य सदन
रामपुर

मुद्रक

कुवेर चन्द्र जैन
पब्लिक प्रिन्टिंग प्रेस,
रामपुर

धन्यवाद

इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय श्रीमान सेठ
धिरंजी साह जी बडजाले वर्धा ने अपनी स्वर्गीया
भारती श्रीमती खुगना वाई को स्मृति में श्रीमती
खुगना वाई सेवा ट्रस्ट की ओर से वहन किया है
अतः सदन उत का हृदय से आभारी है।

व्यवस्थापक

मानव साहित्य सदन
रामपुर (३० प्र०)

प्रथमावृत्ति—जुलाई १९५८

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

मूल्य १)

दो शब्द

अपरिग्रहवाद का प्रश्न सरल नहीं है, पर साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद तथा नवयुग की अनेक नव-वैतनाओं व विचारधाराओं की अपेक्षा से इस का तुलनात्मक अध्ययन तो और भी कठिन है। तब यह है कि अपरिग्रहवाद का विना हीकरण अथवा सर्वांगीण विग्रह निरूपण करने के लिए जिस विपुल विचार-सामग्री की आवश्यकता है, उस का प्रायः अभाव है, और इस का कारण है यह कि मुन्दी दृष्टि से, मुझे मा प्रसिद्ध से, तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया में अथवा अर्थ-वादी वैज्ञानिक विचार पद्धति में तत्त्वज्ञान के इस अति प्रमुख व महत्त्वपूर्ण विभाग पर विचार न किया गया है और न अभी भी किया जाता है, कबल बुद्ध प्रतिपादित की हुई या परम्परा से मिली हुई परिभाषाओं, परिमाणिक शब्दों तथा भेदों-अभेदों के दृष्ट में ही उसे सीमित रख कर उस के विषय में कह मुन लिया जाता है। पर आप इस रटाई या किताबी पद्धिवाई में काम नहीं चल सकता। आज आवश्यकता है दृष्टि विस्तार की, विचार-स्वातन्त्र्य की, कटु-कठोर यथार्थिकताओं से जूझने की, सूक्ष्म सापेक्ष निरीक्षण-परीक्षण की। बौद्धिक ईमानदारी का

भी यही तकाशा है। इस अपेक्षा के साथ विद्वान विचारक सूक्ष्म पर स्पष्ट तार्किक विचारणा व गवेषणा के माध्य अपरिग्रहवाद में गहरे उतरेंगे और खोज-खोज पर उस महासागर में से अलभ्य भोती निकालेंगे, तभी अपरिग्रहवाद के विराट दर्शन हो सकेंगे और तभी यह सुस्पष्ट हो सकेगा कि अपरिग्रहवाद आज के जटिल प्रश्ना का निराकरण करने में वर्तमान युग की विचारधाराओं का सशोधित व परिमार्जित करने में अथवा उन की त्रुटियों व विवृत्तियों को दूर करने में तथा युग-युग की उलझनों को सुलझाने में कहां तक उपयोगी व समर्थ है, और तभी परिग्रहवाद तथा पूजावाद, सम्प्रदायवाद, फामिस्टवाद आदि के दुष्परिणामों में त्रस्त व जर्जर यह जगत अपरिग्रहवाद के महान संदेश को ग्रहण कर वास्तविक सुख व शान्ति की ओर अग्रसर हो सकेगा।

इस लक्ष्य की ओर इंगित मात्र करने के लिये 'अपरिग्रहवाद एक तुलनात्मक अध्ययन' नाम की यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। एक विद्यार्थी अध्ययन और एक जिज्ञासु की स्वाज ही यही है, अतः आशा है कि विद्वान व विचारशील पाठकगण इसी दृष्टि से इस पुस्तक को ग्रहण करेंगे।

—दिवाकर

अपरिग्रहवादः

एक तुलनात्मक अध्ययन

परिग्रह—मन का मेल

सूक्ष्म दार्शनिक ऋषि ने परिग्रह वाद्य जगत् का पदार्थ नहीं, अतजगत् का एक तत्त्व है। यह एक भाव है पर शुद्ध नहीं, मलिन भाव है। उस मन का विकार भी कह सकते हैं। वही मूच्छा है वही आसक्तता है, आसक्तता है कदापी गणनात है। परिग्रह की 'मूच्छा परिग्रह' परिभाषा का आशय भी यही है। इस तरह भीतरा अन्तरिक क या धन मलिनक के स्वास्थ्य का हनन करने वाले जितने भी दुर्गुण या विचार भाव हैं वे सभी परिग्रह रूप हैं। यू भी कह सकते हैं कि मानस-जगत् का मारा मूल परिग्रह है। इसी भाव को यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि आत्मा की निराकुण्ठा ज्ञानिष सुखानुभूति को नष्ट करने वाली क्रोध, मान माया लोभ द्वेष मोह, अहंकार आदि सभी कषाय व लक्षणों अथवा सभी असद् वृत्तियों परिग्रह ही हैं।

परिग्रह और द्वेष का पार्थक्य

किया जा सकता है। आखिर, हिंसा किसी की जान लेना या किसी को मारना-पीटना ही नहीं है। हिंसा के अंतर्गत आत्मा का सारा मैल या विकार आ जाता है, क्योंकि उससे आत्म हनन होता है, व्यक्तित्व का ह्रास होता है, और न्यूनाधिक मात्रा में तथा किसी न किसी रूप में 'स्व' का ही नहीं, 'पर' का भी उत्पीड़न होता है। इसी तरह अमत्य भी वह सब कुछ है जो आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान या स्वानुभव से विमुख या विचलित कर और इस अपेक्षा से सभी दुर्विचार व मनोविकार असत्य ही हैं। ऐसी स्थिति में, परिग्रह को पृथक् रूप में देखने-मम करने के लिये और उस अपेक्षा में अपरिग्रह या अपरिग्रहवाद की विशिष्ट मीमांसा करने के लिये यह आवश्यक है कि परिग्रह को, यदि पण्य के पीछे परिग्रह का भाव-पक्ष विद्यमान है, पण्य-रूप में ही मान्य किया जाय। पृथक्त्व का यह आशय नहीं है, न हो ही सकता है, कि परिग्रह के हिंसा रूप को अमान्य ठहराया जाय। प्रत्येक अवस्था में परिग्रह हिंसात्मक है, अथवा जहाँ परिग्रह है, वहाँ अनिर्णय रूप से हिंसा भी है ही। यहाँ तो यही अभिप्रेत है कि तत्त्व चिंतन या नास्तिक विश्लेषण की दृष्टि से अथवा सामाजिक एवं व्यावहारिक दृष्टि बिन्दु लेकर सुस्पष्ट रूप में विचारणा व गवेषणा करने की दृष्टि में परिग्रह और हिंसा का घुटाला न हो जाय, दोनों टकराए नहीं, धरन अपनी-अपनी जगह रहकर एक दूसरे का स्पष्टीकरण व विशदीकरण करने रहें। आखिर, नीतिवाद परिग्रह को हिंसा से पृथक् एक पाप, हिंसा के सदृश एक मूल पाप, तथा इसी अपेक्षा में अपरिग्रह को अहिंसा की तरह ही एक अलग मूलव्रत मानता आया है, इसलिये यह प्रथकत्व सर्वानुमोदित ही है। अपरिग्रह को मूलव्रत न मान कर अहिंसा व्रत का ही अग या अगुव्रत मान्य किया जाता, तब बात दूसरी थी। पर यह

प्रथमदरण तभी निभ सञ्चता है जब परिग्रह को भावात्मक ही नहीं, पदार्थात्मक भी माना जाय, और इस तरह परिग्रह को इतना व्यापक होने से रोका जाय कि वह स्वयं हिंसा न बन जाय अथवा हिंसा की दूसरी संज्ञा ही बन कर न रह जाय। इधर यह नियंत्रण न किया गया तो उधर फिर अपरिग्रह को अहिंसा बन कर बैठ जाने से कैसे रोका जा सकेगा, और तब तो विचार-जगत में तत्त्व चिंतन व आत्म निरीक्षण में अराजकता सी आ जायगी।

परिग्रह की प्रारम्भिक परिभाषा

यहाँ हम हम परिभाषा पर आते हैं कि जो पदार्थ आत्मा में मूर्च्छा या ममत्व भाव लाता है, अथवा जिस पदार्थ के निमित्त से मन मस्तिष्क या आत्मा में विकार-भाव प्रवेश करते हैं, वह परिग्रह है।

हम मन्तव्य के अनुसार परिग्रह न वास्तव पदार्थ ही है और न मूर्च्छा या ममत्व भाव ही है, बल्कि वह मूर्च्छा ममत्व-भाव है जो व्यक्ति वास्तव पदार्थ या पदार्थों के प्रति रखता है। निम्नव्य ही इस मन्तव्य के अंतर्गत 'वास्तव परिग्रह' एवं 'अन्तरंग परिग्रह' परिग्रह के भेद नहीं, अंग या अवयव हैं।

पर परिग्रह की यह परिभाषा भी एकांगी व अपूर्ण ही है, क्योंकि परिग्रह पदार्थ जिस जगत् जगत में सम्बन्धित है, व्यापक रूप में हमारी अपेक्षा यहाँ नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वैयक्तिक दृष्टि से ही यहाँ काम लिया गया है, सामाजिक दृष्टि से नहीं।

व्यक्ति और समाज

निःसदेह व्यक्तिवाद एक मत्य है, परम मत्य है, चिर सत्य है। किसी युग में व किसी भी परिस्थिति में हमारी व्याप्तिकता को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पर समाज भी तो आखिर व्यक्ति का ही एक प्रलम्बित रूप है यह व्यक्ति से पृथक् नहीं है। व्यक्ति समाज की इकाई है, समाज का घटक है और वही समाज का जन्म-दाता व विधाता है। अनेक व्यक्ति मिलकर अपने-अपने व्यक्तित्व का कुछ अंश एक जगह समर्पित करके ही तो एक वृहद्-समाज-व्यक्ति को जन्म देते हैं। यह एक प्रादान प्रदान मय व्यवस्था है, जिसमें अंतर्गत व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का कुछ अंश समाज के लिये समर्पित करे और मुख्य स्वरूप अपनी शेष स्वतंत्रता व किसी दूसरे की ओर में हस्तक्षेप न डालने का आश्वासन व संरक्षण पाता है। वास्तव में इस पारस्परिक पराधानता का ध्येय वैयक्तिक स्वतंत्रता ही है। समाज निर्माण के इस मौलिक सत्य को हम समझे तो समष्टिवादी विचारधारा को हम व्यक्ति या व्यक्तिवाद का विरोधी नहीं, महायुक्त व संरक्षक ही पायेंगे। उदाहरण के लिये अपरिग्रह को ही लें। अपरिग्रह की वैयक्तिक विचारधारा उसके सामाजिक संस्करण की दृष्टिगत ही सुरक्षित रह सकती है। व्यक्ति में अपरिग्रह की भावना न हो तो समाज में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, पर समाज की व्यवस्था अपरिग्रहवादी सिद्धांतों पर स्थित न हो तो भी व्यक्ति की अपरिग्रह धर्म की माधन्यता होना सामान्यतः अशक्य ही है। समाज की व्यवस्था, राज्य का मंचालन, उत्पादन व वितरण के आधार-भूत सिद्धांत या नीति नियम आदि अपरिग्रहात्मक भावना व विचारधारा पर स्थित न हों, परिग्रहवाद पूजावाद समहारा और तदनुगत व्यवस्था

अपरिग्रह और मदागयता

यहाँ हम मद्रज ही इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वही पदार्थ परिग्रह नहीं है जो व्यक्ति के मन में विकार भाव लाये, बल्कि वह पदार्थ भी परिग्रह है जिस पदार्थ के ग्रहण या संग्रह से शोषण या दूसरों के न्यायोचित अधिकारों का अपहरण हो, समाज में नियमता फैले, एक ओर अति-लाभ और दूसरी ओर हानि हो, अथवा समाज में दुरवस्था अशांति व्याप्त हो। मनोविकार या मूर्च्छा-भाव का जहाँ नर प्रश्न है, वह व्यापक दृष्टि से सामान्यतः यहाँ है ही। फिर, अहिंसा की ही तरह अपरिग्रह सदाशयता में ही नहीं सतर्कतापूर्ण व निवेकपूर्ण यत्नाचार में भी है। अतः यदि मन में शोषण की दुर्भावना न भी दिखे परिग्रह के भाव पक्ष की अनुभूति का स्पष्ट आभास असाध्य भी किया जाय तो भी यत्नाचार के अभाव में परिग्रह है ही। सद्भावना सदाशयता का उद्दाना अथवा मद्रह के बीच जल में कमल की तरह अलित होने या ममत्व-भाव हानि होने का भावा परिग्रह का परिग्रहत्व नहीं मिला सकता, परिग्रह-पाप को अपरिग्रह-घ्न में नहीं बदल सकता। प्रमाण असावधानी अधिवेक, अयत्नाचार, ये सभी यहाँ अपराधमूलक हैं, परिग्रह पाप-मूलक हैं।

परिग्रह की अंतिम परिभाषा

इस तरह अंतर्जगत व बहिर्जगत दोनों की अपेक्षाओं में, तथा वैयक्तिक व सामाजिक दोनों दृष्टियों में, सतुलित व सामूहिक रूप से विचार करने पर हम परिग्रह की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

जिस पदार्थ के निमित्त से व्यक्ति में मूर्च्छा ममत्व भाव या अन्य विकार-भाव आए अथवा और उसका उपयोग भोग या

उपभोग, महत्त्व या संघर्ष, सामूहिक दृष्टि से समाज में विषमतापूर्ण व्यवस्था, शासन पर अधिकार-अपहरण, अज्ञानि, संघर्ष या विनाश की घृणितियों प्रयुक्तियों को खत्म हो या यदि ये घृणितियों विद्यमान हों तो उन्हें संरक्षण दे या उनमें सुद्धि करे, ती यह पदार्थ परिग्रह है।

पदार्थ और परिग्रह

यहाँ महत्त्व ही यह संकेत निहित है कि कोई भी पदार्थ, प्रत्यक्ष अथवा या परिस्थिति में, अथवा उसके उपभोग, महत्त्व या समझ को इस स्थिति में, परिग्रह हो, यह आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, जन-संघर्ष, संघर्ष, वगैरह, नशी, जनसंघर्ष, आदि सामाजिक स्थान, महत्त्व ही किसी के उपयोग में आते हैं तथा साधारणतः इन्हे संरक्षित मोह समाज को भावना के लिये स्थान नहीं है, साथ ही न पत्रिक या पत्रिका के लिये इन्हे उचित उपयोग में किसी एक का विशेषण अधिकार दिखाना है और न समाज में अत्यवस्था या विपत्ति फैलती है अतः समाज में ये परिग्रह नहीं हैं। आकाश वायु, मृत्त, पत्र, नक्षत्र, ये सभी महत्त्व के बरदान भी ऐसे ही पदार्थ हैं। सामाजिक संस्थाओं भी इसी कोटि में आती हैं। राज्य द्वारा कर महत्त्व जन-हित के कार्यों के लिये जन संस्थाओं द्वारा अर्थ-संग्रह आदि में परिग्रह-भावना न होना संस्था जन-हित का विरोध भी यहाँ न ही है। प्रतीक या संकेत धन सम्पत्ति परिग्रह नहीं है। इसी तरह सामाजिक दृष्टि, दुस्स्थि, पीड़ितों या शरणार्थियों की सहायता के लिये खोल गये कर, समाज-सेवा या गरीबों के लिये आदि के लिये समित्त निधि, इन्हें परिग्रह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जिस पदार्थ के प्रति विशेष रूप में अपने मन की भावना या संज्ञक्य मोह समाज की अनुभूति न हो, अथवा

विशेष रूप से परायेपन या विद्वेष की भावना भी न हो उस पदार्थ को 'परिमह' भी मंजूर नहीं की जा सकती। इस तरह हर पदार्थ परिमह नहीं है और ऐसे पदार्थ का उपयोग घृण्य या संभव परिमह पाए नहीं है। यही कारण है कि जिना महात्माआ ने अपरेग्रह पर विशेष रूप से जोर दिया है यहाँ तक कि उसे मृदा जन भी माना है, उदाहरण भी पदार्थ ग्रहण का मर्यादा निषेध नहीं किया है। इनके अपरिमह व्रत की मांग यही है कि व्यक्ति यही या उनका ही पदार्थ ग्रहण करे जिसको लेकर उसका मन मोह-महत्त्व गगन छूग आदि के विकार भावाः विद्युत् या फलुपन न हो अथवा जो पदार्थ नितात आवश्यक हो और इस शक्ति से गृहस्थ तो क्या, महा अपरेग्रहो मायु या मुनि के पास भी गताः पदार्थ उपयोगार्थ रह सकता है।

पर सार्वजनिक स्थान, काष, निधि ट्रस्ट संस्था आदि परिमह रूप के घृण्य से ब्याहर ही हैं, ऐसा नहीं है। इन्हें लेकर भी मोद ममत्व की भावना हो सकती है। सकारण राष्ट्रीयता व प्रातीयता या प्रदेशीयता आदि का भावनाआने अनगणित राष्ट्र या देश अथवा प्रांत या प्रदेश आदि परिमह ही हैं। भक्ति मरिग-गिरजाघर आदि धर्मालय भी परिमह हैं, यदि उनकी आठ म फोर्ड दु स्वार्थ साधन होता है अथवा यदि मानव मात्र के लिये उनका द्वार न खोल कर वर्ग विशेष द्वारा अन्धकार तुष्टि या अवर्म-भावना का आलम्बन उन्हें बना लिया जाना है। इसी तरह ट्रस्ट, फण्ड, निधि, षोष, आदि का भी उपयोग विशुद्ध सार्वजनिक शक्ति से या पात्रता की अपेक्षा से न कर, पक्षपात रागद्वेष व प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या भाव से किया जाय, उठ किमी भा तरह के दु स्वार्थ या विशेष व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाना जाय, अथवा उनका समग्र संवय में अनुरित नवाय, जोर-

उपर्यस्ता, आदि की जाय तो ये भी ऐसा उपयोग या समझ करने वाले के लिये परिग्रह ही है। तात्पर्य यह है कि जहाँ जिस पदार्थ से- चाहे वह पदार्थ सार्वत्रिक ही क्यों न हो, विशेष आर्थिक या अन्य निजी स्वार्थ सम्बन्ध है अथवा जिसमें लक्ष्य मन में विषय-भावना है, दुरुपयोग है, अज्ञान है, मोह-मूर्च्छा है, समाज का अहित है, वह परिग्रह ही है।

अपरिग्रह और अहिंसा

परिग्रह हिंसा का ही एक रूप है। पर हिंसा क्या है? किमी की जान लना ही हिंसा नहीं है। प्राणघात-रुच्य प्राण उन्नीहण ही नहीं, किमी भी तरह का किनना भी उपोहन हिंसा है और निश्चय ही इस अपेक्षा से अहिंसा की व्याप्ति काठिकाना नहीं है। जहाँ भी दुःख का निराकरण है जहाँ भी कष्ट व पीडा का निवारण है अथवा जहाँ भी मुख वृद्धि है, निराकुलता है, शांति है, वही अहिंसा है। दृष्टतया अखिल प्राणी जगत यहाँ अपेक्षित है उपधि ही नहीं, समधि यहाँ नष्टिगत है। और एमो स्थिति में अपरिग्रहमूलक सामाजिक व्यवस्था पूर्णरूपेण अहिंसात्मक ही है। अपरिग्रहवाद को भुल्यकर अहिंसा की साधना एक विहम्बना मात्र है। पूजीवानी या परिग्रहवाणी समाज में क्या होता है? एक पूजीवानी पानी छान कर पीते हुये भी मजदूरों का खून जिना छाने हा पी जाता है, चींटियों व कीड़ों-मकौनों को भ्रलाते पिछात हुय भी मानव-देह धारियों को भूसा मरन की परिस्थिति में डालने से किमकता भी नहीं है, व्यक्ति लक्ष्यविपति या धार समही होकर भी शोषक होकर भी, अहिंसा पाठन का अभिनय करता है और समय असमय अहिंसा की तुहाई देते हुय व भी नहीं अचाना है। इतना ही नहीं

अपरिमहवादा के सामाजिक संस्करण के अभाव में यह घोर परिमत्री या परिमहवादी यह भाव भी करता देखा जाता है कि यह अपरिमहवादी है। इसके लिये यह अपरिमहवादी वे ही तोड़-मरोड़ कर बेटंगा बना देना है, अहिंसा को भी भौंड़ी और सूली-लंगड़ी बनाने में कमी नहीं करता है। निरवय ही अहिंसा, परिमह की दुनिया में वास्तविक अर्थों में प्रतिष्ठित हो ही नहीं सकती। अहिंसा को व्याप्त बनाया है तो परिमह को निरोप करना होगा तथा अपरिमहवादा के आधार पर समाज का नव-निर्माण करना होगा। अपरिमह के बिना अहिंसा अपाहिम है, प्राणहीन है। जहाँ परिमह है, वहाँ शोषण है, उत्पीड़न है, हिंसा है। जहाँ अपरिमह है, वहाँ अहिंसा है।

त्याग और अग्रदण

यहाँ अपरिमहवाद का एक विरल स्वरूप हमारे सामने चक्षु के समक्ष आता है और तब हम इसकी गहराई में छूँदने पर देखते हैं कि वास्तव में अपरिमह त्यागमूलक नहीं, अपहण-मूलक है। यह रहस्य सूक्ष्म है, पर बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसे समझने से अनर्थ ही होगा, जैसा कि हुआ भी है।

व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक पदार्थ या धन-सम्पत्ति का समझ करे, उत्प्रेषण उसमें से दान करे या अपने पुत्रादि के पक्ष में उसका त्याग करे, यह अपरिमह के मूलधर्म का पालन या आचरण नहीं है। अपरिमहवाद पहण कर त्याग या दान करने का नहीं, पहण न करने का विधान करता है। त्याग या दान को भूल-सुवार या प्रायश्चित्त भले ही कह दिया जाय, पर अपरिमह के आसन पर उसे बिठाना अपरिमहवादी आशय को

गिराना ही है। फिर, त्याग की यह पद्धति, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी धन सम्पत्ति या परिग्रह अपने पुत्र, सम्बन्धी या अन्य दृष्ट व्यक्तियों को देकर निवृत्तिवादी 'वीतरागी' साधु बन जाय स्वयमेव भी इसकी महान नहीं है कि उसे निर्दोष मान लिया जाय या उसे आदर्श के पद पर आसीन किया जाय। निश्चय ही इस त्याग रूपी अमृत में नीचे मोह की तलछट जमी हुई है। निर्व्यय-धुन-रूपी साधुधर्म की दीक्षा लेते समय सतान या परिवार का यह संकीर्ण मोह उसके नव जीवन की एक अमागलीक भूमिका है। कम से कम जिस धन सम्पत्ति पर जमी का निर्माणाधीन स्वामित्व है, उसका जेसा त्याग मोह भावना के दृष्ट से परे नहीं है और इस अपेक्षा से यह अपरिमहवाद भी मर्यादा भावना व कृति से दूर है, बहुत दूर है।

त्याग या दान का अपना एक मूल्य है और यह मूल्य धनक छूटा है यदि त्याग या दान समाज के लिये हो, मानवता के लिये हो। आवश्यक से अधिक जो कुछ धन के पास है, जन हित के लिए धन का समर्पण अथवा धनका समाजार्पण अपरिमह धन पालन की परिस्थिति का निर्माण है, अपरिमहवाद का आह्वान है, वातावरण या व सुमंडल का शुद्धिकरण है, पर यह सत्य कभी न भूलना चाहिये कि मूल रूप में या मर्यादा अर्थों में अपरिमहवाद की भावना यहाँ नहीं है। यह साधना आवश्यक में अधिक परिग्रह में सम्यक् की स्थिति में, जब तक यह स्थिति बनी रहती है व्यवहार्य ही नहीं है। यह तो तब शुरू होती है जब व्यक्ति अनि-परिमह को या आवश्यकता में अधिक धन सम्पत्ति को समाज की सेवा में अर्पित कर, कम से कम आवश्यक परिग्रह में सतोष कर, अधिक परिग्रह-ग्रहण नहीं करता है अथवा अधिक परिग्रह मिल सकने की परिस्थिति में

भी उसे स्वीकार नहीं करना है। राष्ट्र रूप में यहाँ अपरिपक्वता की साधा में अप्रहण है, पहीत का रपाग नहीं है, दाग नहीं है।

दान निदोष नहीं है

दान यू भी निर्दोष नहीं है कि उसे स्वच्छतम पत्र पर या अपरिपक्वता के आसन पर प्रतिष्ठित किया जा सके। परा भी सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो उसमें सहज दोष भी हमें निलेंगे। दान देने वाले में आर्षुचित व अस्मन्यता की भावना व्यक्त या अव्यक्त रूप में, सूत्रम या सूत्रम रूप में, सूत्राधिक मात्रा में, परिपुष्ट होती है, यशस्वी या दानवीर कहलाने का 'सन्तोष' मिलता है। इतना ही नहीं, स्वार्थ या उसके अगने व पनपने का का बीज भी वहाँ होना है। ज्ञान देने पर दाना के रूप पर जो दानी के विषय में प्रभाव पड़ना या उसका लिटाज होना स्वाभाविक है, उसका दुरुपयोग पर स्वार्थ-साधन करने के प्रलोभन में ज्ञानी के सहज ही फँसने की स्थिति नहीं है ही। इस तरह दान दाता के जीवन विराम को, अथवा व्यक्तित्व के रास्ते उत्कर्ष व परिष्करण को हानि पहुँचाने वाले घातक तत्वों में रूप नहीं है। और जहाँ तक दान लेने वाले का सम्बन्ध है, दान स्वच्छतया एक गिराने वाली बीज है। दान रिमी भी स्थिति में लिया जाय, दान लेने वाले में कृतज्ञता की या उपहृत होने की भावना आती ही है, और दाना के प्रति एक तरह की आदर व भद्रा की अनुभूति भी वहाँ जन्म ले लेती है। फिर धीरे धीरे दाता के प्रति एक ऐसी दृष्टि बहा अनजान में डी प्रयत्न कर लेती है जिसे ज्ञाता के गुण यत्र चढ कर दिखाई देने लगते हैं और उसके अग्रगुण या दोष दिखने ही नहीं हैं, या दिग्ग भी हैं तो गुणों के नीचे इस तरह न्य जाते हैं कि गौरव

या उपेक्षीय समझे जाने लगते हैं, 'गुण-महण' की भावना यहाँ अत्रगुणा से निरपेक्ष रह कर ज्ञाता को गुलामी का ही भंडार मानने लगती है। मध्यमच दान लेने वाले में गीनता, भीरता, अकर्मण्यता पराक्रमध्वन भाव तथा कृत्रिमता जन्म चाटुकारिता या मातसिद्ध दासता की भावनायें आकर -मे इतना बहकानी और हिलानी-डुलानी हैं कि उनके व्यक्तित्व का भीतरी विकास रुक जाता है, उसका स्वत्व छिन्न जाता है, उसका अोज, तेज व गौरव फीका पड़ जाता है। धन संमह या अति परिमह को प्रोत्साहन भी, मृ-म व अक्षय रूप से, ज्ञान देता ही है, और इसमें परिमह को पाप मानने की भावना तो मिश्रती ही नहीं है, -मे पुण्य का मात्रन समझने का धर्म भी मन्तिक को जरूर होता है। ज्ञान में श्रम को भी प्रश्रय मिलता है, व्याघ्र को गोमुख धारण करने का जरूर मिलता है। साथ ही धनोपार्जन या परिमह-महण के उपायों के औचित्यानीचित्य का प्रश्न भी दान की 'पुण्यशीलता' की छत्रछाया में मौल्य हो जाता है पर तरह से पापाजीविका का प्राथमिकत बत कर पाप को अभय दान दे देता है।

आदर्श क्या है ?

इस तरह आशा-साधना की नीतिवादी दृष्टि से दान निरालोक नहीं है, यत्कि विचारपूर्वक देना जाय तो नीच कालीन दृष्टि से यह संयम भी नहीं है, कल्याणकारी भी नहीं है। अधिक से अधिक दान एक ऐसा मरहम है जो ऊपर ही जतनों पर लगाया जाता है, पर तून में ही जो विकार है, उसे दूर नहीं कर पाता है। यह भून तो उस समता या मुख्यवस्था का आसव पाकर ही शुद्ध हो सकता है जो मरहम की लीपापोती को अनावश्यक बना दे। समाज का ऐसा नव निर्माण किया जाय

सकता है अतः यावत् पदार्थ को लेकर अपनेपन या परायेपन की कल्पना करना अस्य का प्रथम देना और व्यक्तित्व को गिराना है।

[५] क्रोध, मात, गाया, लोभ द्वेष, राग या ममत्व, मूर्च्छा, अहंकार, ये सभी अनर्निवार बाह्य पदार्थ का आश्रय लेकर व्यक्तित्व पर प्रहार करते हैं, अतः पदार्थ का उचित नियंत्रण आवश्यक है। पदार्थ का भोगोपभोग या उपयोग उतनी ही मात्रा में अथवा उभी रूप में हो कि ये भीतरी शत्रु उसका आत्मपन न पा सकें।

इस तरह अपरिग्रहवाद की मार्गनिष्ठ भूमिका सरल है, उसमें कहीं हेर-फेर या मुन्नावा नहीं है। महज विचार व अनुभव की चीज है वह। इग्रहवाद से उसे घोरना येमानी है, परलोफवाद या कर्मफलवाद से भी उसका गठबंधन नहीं है, और इस अपेक्षा से भाग्यवाद से उसका कोई नाता नहीं है। काल्पनिक धारणा या मान्यता को या अटल पाशिया को कोई स्थान यहाँ है ही नहीं। यहाँ मनोविज्ञान की यथार्थता ही आधार भूत है। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी कि अपरिग्रहवाद मन्चे अधो में जीवन विज्ञान है, साथ ही यह जीवन-कला भी है। यथार्थ में अपरिग्रहवाद सुखी जीवन की किलासपी है।

अपरिग्रहवाद बनाम साम्यवाद

अपरिग्रहवाद के इस विद्यमान में महज ही हमारी दृष्टि साम्यवाद की ओर जाता है और तब अनायास यह प्रश्न सामने आता है कि यदि पूजा का साम्राज्य मिटा कर, मानव-

जीवन को विध्वंसकारी संघर्ष, प्रतिस्पर्धा व प्रतिद्वन्द्विता से दूर, सहयोग के सुन्दर आधार पर स्थित कर आर्थिक समानता को प्रतिष्ठित कर, एक वर्गहीन शोषण-विहीन समाज व्यवस्था स्थापित करना अपरिमहवात् का लक्ष्य है तब उसमें और साम्यवाद में क्या अंतर है ?

साम्यवाद से क्या अभिप्रेत है ?

साम्यवाद में हमारा अभिप्राय आर्थिक समानता की उस वैज्ञानिक विचारधारा से है, जिसके मूल प्रणेता मार्क्स हैं। इसे सामान्यतः कम्युनिज्म या मार्क्सवाद कहते हैं। पर इस विचारधारा में और भी किन्ने ही गंभीर दार्शनिकों व विचारकों ने योगदान देकर इसे विस्तृत किया है इसलिये, तथा 'साम्यवाद' शब्द भावपूर्ण व अर्थपूर्ण होने से अधिक उपयुक्त है इसलिये भी, हम इसी नाम का प्रयोग करेंगे।

साम्यवादी विचारधारा के अंतर्गत समाजवाद आ ही जाता है। राष्ट्रीय समाजवाद, फेबियनिज्म गिल्ड समाजवाद, समष्टिवाद अराजकतावाद आदि की शरीकियों को लेकर वह अलग अलग रूपों में वहाँ प्रियमान है। पर हम इतनी गहराई में जाकर न उलझेगे। हम साम्यवाद की मूलभूत समाजवादी विचारधारा को ही लें, जिसके सम्बन्ध में सभी साम्यवादिनों में मतैक्य है, और उसी विचारधारा को अपरिमहवाद की तुलना में देखने का प्रयत्न करेंगे।

साम्यवाद का आधार

साम्यवाद की नींव अर्थ मूलक है पर 'अर्थ' का अर्थ यहाँ पैसा या धन-सम्पत्ति ही नहीं बल्कि हर वह पदार्थ है, जो

नय संस्करण की शान है, या जहाँ तक साम्यवाद के स्वप्नों व आदर्शों का प्रश्न है, हर कोई उसे माधुवाद व आडर के भावों से ही देखेगा भले ही उसकी व्यावहारिक अथवा देश-काल की परिस्थितियों की अपेक्षा में उसके प्रगति क्रम या वाच्य रूपों के विषय में अथवा उसकी अपेक्षाओं व मर्यादाओं के सम्बन्ध में वह अपने अलग विचार रखे, या चाहे वह साम्यवादी विचारधारा तथा पद्धति व युद्ध पद्धतियों को पसन्द न करे। विधिवाद रूप में साम्यवाद के स्वप्नों का संसार महान है, स्वर्ग के समान सुखी है, और हम अपेक्षा में यह कहा ही जा सकता है कि साम्यवाद मौलिक व नीचकालीन दृष्टि में एक अहिंसात्मक विधान है।

एक शंका

यहाँ स्वभाषितः यह शंका उठ सकती होती है कि सामान्यता भारतीय तथा अन्य साम्यवादीयों की हिंसात्मक कार्य पद्धति अथवा उनके आतंकवादी कार्यक्रम को तथा उनकी गति-विधि व युद्ध-युक्ति को स्वीकार करके यह मान्य करना कि साम्यवाद एक अहिंसात्मक सिद्धान्त या विधान है, जहाँ तक वस्तु स्थिति के अनुकूल है ?

शंका निराधार नहीं है। सचमुच भावना और कृति का, आदर्श और व्यवहार का, यह घोर अनिर्विरोध हम द्विविधा में डालने के लिये अपर्याप्त भी नहीं है। पर यदि हम ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धति से रूस में हुई साम्यवादी क्रांति पर दृष्टि डालें तो हम इस निर्णय पर आये बिना न रहेंगे कि साम्यवादियों की हिंसात्मक नीति व कार्य पद्धति का मूल स्रोत साम्यवाद के सिद्धान्त या आदर्श में नहीं उन विशेष व अमाधारण परिस्थितियों में है जिन में साम्यवादी क्रांति का सूत्रपात हुआ। आइये, एक दृष्टि डालें।

माधन की प्रभावशीलता

एकानिक रूप में माधन के किसी विशेष रूप का आग्रह नहीं किया जा सकता, न किया ही जाना चाहिये । पर यह एक सरी मन्चाई है कि साध्य के अनुकूल साधन न हाता साध्य की साधना पूर्णतया निर्दोष एवं शुद्धिहीन नहीं हो पाती । विराय विषम परिस्थिति की अपेक्षा में अपवाद उपादेय हाकर भी नियम रूप में साध्य-साधन की एक रूपता ही उचित व श्रेष्ठ है, यही आदर्श भी है । साधन का प्रयोग जो भाव या विचार मन में खाना है अनिवार्यतः उसकी प्रतिक्रिया साध्य पर हाती है । जन्में परिस्थितिया साधनों को सुनिश्चिन करती हैं वहा साधन भी परिस्थितियों का निर्माण करते हैं, और जिन परिस्थितियों में कोई ध्यवस्था जन्म लेती है, उनका इस ध्यवस्था के ध्यवगुणिक स्वरूप पर, बल्कि उसकी विचारधारा पर और सभरत एक सीमा तक उसके मूल स्वरूप पर भी प्रभाव पडता ही है ।

रूम की साम्यवादी क्रांति

यही नियम काम कर रहा है साम्यवाद के जन्म और विकास को लेकर । जिन समय रूम में पारशाही का आतंक और दमन हा तक पहुच गया था तथा सारे अविकार निरंकुरा आततायी पार और उसके गिने चुने अविकारियों व सामन्ता के हाथों में थे, जनता की इच्छा अनिच्छा का कोई मूल्य न था, जमकी आवाज नकार खाने में तूती की आवाज थी, यही नहीं, वह बुरी तरह ब्रह्म पीडित व अन्याय प्रस्त थी और उसकी पुवान पर ताजा जगा होन से वह उक भी न कर सकती थी, तब साम्यवाद ने पारशाही के विरुद्ध जनता के असंतोष व

की भावनाओं को व्यक्त किया, उसने चारों ओर वैसी हिंसा और अनीति को, जुर्मो सितम को, चुनौती दी, और सरासरी प्रजाति का मूढ़ा ऊँचा किया। परिष्कृत स्तन की नदियाँ बहने लगीं और अतन्त आरशाही का तख्ता उतटा, साम्यवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस परिस्थिति का इतना गहरा प्रभाव साम्यवाद के विचार प्रवाह पर पड़ा, जैसा कि पडना स्वभाविक भी था कि आतन्त्रवादी लूटमार, सूँरेखी या मशम्र क्रांति, साम्यवाद का एक अतिवादी अंग मानो जाने लगी, यद्यपि वस्तु-स्थिति यह है कि साम्यवाद का हिंसात्मक साधनों में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। स्वयं वात मार्क्स ने ही १८७० ई० के फर्स्ट इंटरनेशनल (First International) में भाषण देते हुए कहा था—“हम यह गवा न करने करते कि, इस भयेय तक पहुँचने का मार्ग सब जगह एक जैसा ही है। हम जानते हैं कि भिन्न देशों की समस्याओं और रीतियों का विचार ही की जा सकती। हम इस बात में इन्कार नहीं कर सकते कि अमेरिका, इंग्लैण्ड और यदि मैं आपका उद्ययस्था को भली भाँति समझ रहा हू तो हालैण्ड भी, उसे राय है, जहाँ मजदूर शक्तिपूर्ण उपायों से अपने उद्देश्य की निरति कर सकते हैं।” इस तरह मार्क्स के मतानुसार भी हिंसात्मक नीति या काय पद्धति अनिवार्य रूप से साम्यवादी विचारधारा का अंग नहीं है। ठीक भी है। बाहर से नहीं, भीतर से घलित जड़ मूल से, हिंसा के सभी कारणों का मूल स्रोतों को निरोध करने का दावा करने वाला साम्यवाद हिंसात्मक नीति को अपना का एकामितक रूप में आपह करे यह जँचने वाली बात नहीं है। यहाँ तक कि यदि कोई ऐसा हठ करता भी है तो यही मानना होगा कि वह मूढ़ता-वश अपनी विचारधारा की जड़ों पर ही आघात कर रहा है या उसे अपने आदर्श में सजीव आस्था ही नहीं है।

अपरिग्रहवाद साम्यवाद

अपरिग्रहवाद और साम्यवाद की सैद्धांतिक विचारधाराओं को जान लेने के उपरान्त दोनों का तुलनात्मक निरीक्षण करें तो हम देखेंगे कि आश्चर्यजनक रूप में दोनों बाद एक दूसरे के निकट ही हैं, यल्कि बहुत अरों में ये एक दूसरे के पूरक भी हैं। तभी हम यह बलीभानि समझेंगे कि दोनों में मौलिक अंतर या भेद 'नहीं' बरकरार है, जो भेद है वह उपरी है, गौण है।

समानतायें

अपरिग्रहवाद के मूल में यह भाव है कि व्यक्ति किसी बाहरी पदार्थ में निजत्व या स्वामित्व का, तन्त्रय मोह ममत्व का भाव न रखे और इधर साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का अंत करता है और ऐसी स्थिति लाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी पदार्थ को 'अपना ही' न कह सके अथवा उसमें उसकी विशेष आसक्ति या मूर्च्छा आदि न हो। समाज की सारी सम्पत्ति व सम्पत्ति-निर्माण या उत्पादन के समस्त स्त्रोत व साधन सामूहिक रूप में समाज द्वारा ही अधिकृत हों, या यूँ कहें कि समाज सम्पत्ति का स्वामी कोई विशेष व्यक्ति, वर्ग या कोई भी संस्थान न समुदाय न होकर मात्र ही समाज ही, तब सहज ही व्यक्ति को पदार्थों के प्रति मयच्छि होगी, वह उनका उपयोग या भोगोपभोग करते हुये भी बहुत-बहुत निर्लिप्त या अनासक्त रह सकेगा, मत्स्य या अग्नि-संघर्ष की लालसा व वासना उसके मन में हिलोरे न लेगी मोह ममत्व, सृष्ट्या, प्रतिस्पर्धा घन मन, अहंकार, पापाजाविका या अनीतिपूर्ण घनोपार्जन, आदि परिग्रह-अन्य क्लिप्त वृत्तियों प्रवृत्तियों के लिये अनुपुन

यातावरण न रह जायगा। व्यक्ति के अनिच्छाम द्वारा सामूहिक रूप से समाज को तानि होने की परिस्थिति यहाँ न होने से लोभ व लिप्सा पर लगाम लगेगी जोपरण अव्यवहार्य होगा, पारस्परिक प्रतियोगिता व प्रतिद्वन्द्विता न होने से शक्ति व समय का दुर्ूपयोग रहेगा, और मिल जुल कर निर्माणकारी कार्यों के सम्पान की प्रेरणा बलवती होगी, तथा स्वार्थों को टक्कर होने की संभावना न होने से युद्धों की निर्भीषिका का अंत होगा।

अपरिमहवान् व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक पदार्थ या धन-सम्पत्ति रखने का निषेध करना है, और साम्यवादी भी यही चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करे और अपनी आवश्यकता व अनुसार उपयोग या भोगोपभोग की मामूली पाठ। हम तरफ योग्यतानुसार देने और आवश्यकतानुसार लेने की यह साम्यवादी नीति ऐसी व्यवस्था को जन्म लेना चाहती है जिसमें व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पदार्थ का संग्रह नहीं कर सकेगा। यहाँ उचित उपयोग या भोगोपभोग के लिये ही ध्यान होगा, और स्पष्टत इस औचित्य में विकार नहीं है, माह नहीं है ममत्त्व या आमत्ति नहीं है। यहाँ पदार्थ है पर परिग्रह नहीं है।

अपरिमहवान् और साम्यवादी म एक महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि ये दोनों ही सिद्धान्त एक और अखण्ड मान्यता की भावना पर स्थित हैं, दोनों की दृष्टि सार्वत्रिक व सार्वभौमिक है। परिग्रह के पीछे विषम दृष्टि है, एक पदार्थ के प्रति विशेष आसक्ति या लिप्सा है, और निश्चय ही जब तक सहानुभूति व आत्मीयता का पृत्त विश्व व्याप्त न हो, सारा ही मानव-जगत, बलिक

प्राणी-जगत अपने इष्टि-विस्तार का क्षेत्र न हो, रंग, राष्ट्र, नस्ल, जाति, परिवार आदि सीमाओं का अतिक्रमण कर आत्मानुभूति सभ में अपने को और अपने में मूख को लय न करे या स्व-पर में परस्पर बिलीनीकरण न हो मेरे नेरे का भेद-भाव या अपने-पराये की कल्पना नि-रोध न हो, नच तक परिग्रह रहेगा, अपरिग्रह-वाच आत्ममान् न हो मथेगा। जो व्यक्ति सकीर्ण जातीयता, राष्ट्रियता, साम्प्रदायिकता या स्व साम्प्रतिकता में मोहासक्त है, उसके लिये उम की जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय व सभृति परिग्रह-रूप ही हैं। ऐसा व्यक्ति मने ही अपनी सम्पत्ति पर कान्त भार कर 'माधु मयासी' हो जाण पर उसके जीवन में अपरिग्रह की साधन न है, न हो सकती है। इधर साम्प्रवाद की जो कल्पना या योजना है, उसके मूल में ही यह मान्यता है कि सभजन समाज पर महान् व्यक्ति है और कोटि-कोटि मानव ध्यास उसने ध्ये हैं। यहाँ समष्टि क हित का प्रश्न मदैव व्यक्ति की लालसाओं या महरगाम्भ्याओं पर एक रधन है। यही नही, साम्प्रवाद की विचार-वाग ही अतराष्ट्रीय है। उसके अतर्गत अखिल विश्व को एक राष्ट्र बनाने का प्रश्न मर्ने प्रधान है, और मंकीर्ण राष्ट्रवाद का वहाँ नाम भी नही है। ममस्त मंकीर्ण स्वार्थों का त्याग तथा मानव मानव की और नर-नारी की समानता यहाँ प्रतिष्ठित है।

एक ही मत्प के दो बाजू

इस तरह जिनना ही अपरिग्रहवाच और साम्प्रवाद को हम भीतर ही भीतर टटोलेंगे हम देखेंगे कि साम्प्रवाद बड़े में बड़े पैमाने पर समाज को व्यवस्था प्रेमी बना लेना चाइता है, जिसम व्यक्ति नि-परिग्रही हो। नि-भेदेह साम्प्रवाद म अपरिग्रहवाच

के सर्वोत्कृष्ट सार्वजनिक रूप के निर्माण की उपादान सामग्री
 विद्यमान है, यहाँ तक कि समयतः यह कहना अतिरागेति न
 होगी कि साम्यवाद अपरिग्रहवाद का सामाजिक संस्करण है।
 वैयक्तिक अपरिग्रहवादी भाषना को सामाजिक दृष्टि से किसी
 विधान या योजना में मूर्तिमान बना जाय, तो निश्चय ही वह
 साम्यवादी योजना से, समय समय से स्थान-स्थान की वास्तु
 परिस्थितियों की विषमताओं के परिणाम-स्वरूप अनिर्धार्य रूप
 में होने वाले भेद या अंतर के बावजूद भौतिक रूप से प्रायः
 समान ही होगा, और तब यह मुख्यतः होगा कि ये मानों ही
 बाद एक ही स्वरूप को धारण करेंगे। अंतर इतना ही है कि एक
 की दृष्टि व्यक्ति-प्रधान है, दूसरे की प्रधान प्रथा है।

एक दूसरे के पूरक

एक बात और है। अपरिग्रहवाद और साम्यवाद, दोनों
 एक दूसरे के पूरक भी हैं। अपरिग्रहवाद कहता है कि व्यक्ति
 आवश्यकता के अनुसार ही सामग्री या धन सम्पत्ति प्रदान करने
 पर उस आवश्यकता के माप-तक का निर्देशन साम्यवाद करता
 है। यह कहता है कि व्यक्ति की आवश्यकता समाधानुभाविता होनी
 चाहिये। व्यक्ति को ही निर्णय का अधिकार न करे वह 'आव-
 श्यकता' को तरह की तरह स्वीचने की आशंका को निर्मूल कर देता
 है। फिर, अपरिग्रहवाद समाज-निर्माण में हाथ बँटाने के विषय में
 व्यक्ति द्वारा समिति को अपनी देन देने के सम्बन्ध में, मीन मा
 ही है। साम्यवाद इस कमी को पूरा करता है। प्रवृत्त्यात्मक
 पक्ष पर जोर देकर यह अपरिग्रहवाद के निवृत्त्यात्मक पक्ष को
 सतुलन करता है। यूँ भी कह सकते हैं कि साम्यवाद अपरिग्रह
 के अनिर्णय पर या अपरिग्रहवादी भाषना के दुुरुपयोग व उन्माद पर

प्रतिबंध लगाता है। अपरिमह के नाम पर मनुष्य को जडवत्, निरर्थक कष्ट महन करने वाला, अनुभोगी या अकर्मण्य स्वच्छिन्न या स्वार्थी कायर, भगोड़, पलायनवादी या भेषावादी बनने की जा आती संयम, त्याग, तपस्या और आमशुद्धि के नाम पर पर चली है तथा मुफ्तखोरी और हरामखोरी का जो बाजार अपरिमह की दुहाइ के बल पर निवृत्ति-मार्ग के मंड़े तले गरम हुआ है मात्थवा-धमका अन्त कर लेना अथवा धर्म के स्वानुसंग के पारम से ऐसे लौहबन्धु-व्यक्तियों को माना जाना चाहना है। यहाँ सामाजिक या सार्वजनिक भावना से अथवा निकाम के निर्लिप्त भाव से कर्त्तव्य-पालन की परिस्थिति है। धर्म यहाँ गौरवात्त है। स्वावलम्बन यहाँ प्रतिष्ठित है। निवृत्ति के एकान्तवा-को यहाँ प्रसन्न नहीं है।

प्रश्न—क्या ऐसे सामाजिक या सार्वजनिक भावना के निवृत्ति-मार्ग के लिये स्थान नहीं है ?

उत्तर—नहीं। कौरी निवृत्ति अतारस्यक उच्छ महन ही नहीं है, यह विश्व-हित की भावना अथवा पर-हित की साधना के प्रतिबन्ध भी है। कौरी प्रवृत्ति भी इसी तरह मन्त्रोप है। सत्य के कल्याण विमो एक में नहीं, लेना के सन्तुलन में हैं। आत्म-प्रदान की आधार गिना यही है नीतिवा-का प्राण भी यही है। मैं किसी म लू और लेता ही रहूँ उसे कुछ न दू, यह नहीं चल सकता न चलना ही चाहिये। परस्पर लेन देन के आधार पर ही यह समाज और समाज स्थित है, यह जीवन टिका हुआ है। एक व्यक्ति समाज का परित्याग करे, जग को मिथ्या या माया कह कर उस में नाना तोड़ने का दावा या अभिनय करे पर उस के उपरान्त भी यह दुनिया से लेता ही रहे और

का नाम न लेता यह उसकी अनधिकार व अमह्य चेष्टा ही है। जो दुनिया को देने के कर्तव्य के प्रति उत्तमी है, वह दुनिया में देने के अधिकार का उपयोग नहीं कर सकता। कर्तव्य और अधिकार की जोड़ी है। जिसका दुनिया के प्रति कोई कर्तव्य नहीं, उसका दुनिया पर कोई अधिकार भी नहीं होना चाहिये। कर्तव्यहीन अधिकार का उपयोग शोषण है, अत्राय है पाप है। दुनिया को देना जिस नाश भौं सिखोइनी है, उसका समाज में रहना, समाज का एक अंग बन कर और उस अपेक्षा में समाज पर टिक कर रहना असहनीय है। जिमी को किमी पर भार बनने का अधिकार नहीं है। स्वतन्त्र सामाजिक जीवन की आधारशिला है और जो इस शिला को चूर्ण करता है, वह समाज व्यवस्था की जड़ों को फिजाता और मानव-जीवन को रौंठता है। नियुक्ति मार्ग का अधिक यही अनधिकार चेष्टा करता है। उसकी मान्यता के ताने बाने का तार तार समाज की देन है। हमारी चर्चा, भोजन विधि अथवा उमका साथ ही जीवन-यापन समाजाश्रित है। मच ता यह है कि वह कर्तव्य-पक्ष की अपेक्षा में ही नियुक्तिवादी है, अधिकार पक्ष का जहाँ तक सम्प्रय है, वह प्रवृत्तिवादी ही है। कहने की जरूरत नहीं है कि यह दुरंगी नीति नहीं चल सकती और न इसे चलाने के ही चाहिये।

प्रश्न—आपने सामाजिक दृष्टि में ही विचार किया है। व्यक्तिगत से परिष्करण अथवा आत्म-निमग्नता का दृष्टि में देखने पर आप नियुक्ति-मार्ग को प्रस्तुत करने या करने के पक्ष में ही अपना मत देंगे।

उत्तर—नहीं। आत्म-कल्याण नियुक्तिमूलक ही नहीं है। समाज एक प्रवृत्त्यात्मक पक्ष भी है और वह भी चलना ही मयक

है। दूमरा से हटकर या अग्नेद्विन होकर आत्म-कल्याण।
 निज-हित की साधना नहीं चल सकती। आधिर्मनिर है
 साधन के लिये तो निर्विघ्न रूप में यह मर्मसाधन है।
 वस्तु स्थिति यह है कि आध्यात्मिक कल्याण की दृष्टि में यह
 एक सरी सच्चाई है। क्रोध मान, माया लोभ, राग, ईर्ष्या
 इन सभी कषायों व दुर्वासनाओं को या आत्मा कल्याण के
 विकारों का मिटाने का यह अर्थ क्यापि नहीं है कि ईश्वर
 दृष्टि से ही उन्हें अश्वरहस्य बना दिया जाय। अश्वरह
 स यह मिटाना ही सच्चे अर्थों में उन्हें मिटाई।
 परिस्थितियों में व्यक्ति रह, जो क्रोध मान, माया, लोभ
 घुराहों का प्रादायल हो और वहाँ रहते हुए ईश्वर
 करने का अभ्यास मतत् करना रह और हम अर्थात्
 परिणाम स्वरूप यह अपना हृदय स्वयं पर ईश्वर
 बना सके कि उस समय परिस्थितियों में रहते हुए ईश्वर
 व अनासक्त रह, जल में कमल का तरह और ऊपर
 उपर रहे, यह अवस्था ही सचमुच धीरपणा है।
 शान बनावरण व एक ठवाम में सदा
 मन्त्री है, मन्त्री साधना नहीं हो सकती।
 तूफान के बीच अचल बने रहना मार्ग
 साधना राग द्वेष व विन्द निरंतर
 विजय पाने में है। राग द्वेष कषायों को
 कमजोरी को उभारने में रोका जा
 किया जा सकता। कषाय-मारना
 है। उसे मूल में मिटाना और उसके
 मार्ग अश्वरह करना ही सन्धी
 निश्चय ही है।

प्राप्त हो सकती है, और इस अपेक्षा में आत्मकल्याण की साधना में प्रवृत्ति का भी अपना योगदान है। इस तरह सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, वैयक्तिक दृष्टि से भी, अथवा आत्म कल्याण की अपेक्षा से भी, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का संयोग व सन्तुलन ही श्रेष्ठ है। जहाँ कोरी प्रवृत्ति अनर्थ-भूलक है वहाँ कोरी निवृत्ति भी एक-दक्षीय और आत्म-घातक है। अतः वैयक्तिक हित-साधन या आत्म कल्याण की दृष्टि से भी कोरे निवृत्ति-मार्ग की खुली छूट नहीं दी जा सकती अथवा किसी को भी समाज पर भार बन कर रहने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

इस तरह हम देखते हैं कि साम्यवाद मूलतः अपरिग्रहवाद का संशोधन व परिष्करण करने की क्षमता रखता है। ठीक इसी तरह अपरिग्रहवाद भी साम्यवाद की त्रुटियों व विवर्तितियों को हटाने अथवा उसे परिष्कृत व पूर्ण बनाने का सामर्थ्य रखता है। जहाँ अपरिग्रहवाद निवृत्ति की अति में पीड़ित है, वहाँ साम्यवाद को भी प्रवृत्ति के उन्माद का रोग लगा हुआ है, और इसका इलाज अपरिग्रहवाद में उसके संयोग व सन्तुलन ही है। साम्यवाद ने जीवन के आर्थिक पहलू पर अत्यधिक जोर दिया है, यहाँ तक कि आर्थिक जीवन के विकासक्रम में ही वह इतिहास निर्माण देख पाता है और इस अपेक्षा में वह मनुष्य को इतिहास का निर्माता नहीं, बरन् एक कठपुतला या यंत्र मात्र मान लेता है। यहाँ पूर्ण सत्य नहीं अर्ध-सत्य है। अपरिग्रहवाद व उस की अल्पतममूलक दृष्टि इस भ्रम को दूर कर इतिहास-निर्माता मानव की मानवीयता का सच्चा स्वरूप प्रकट कर सकती है। फिर, अधिकाधिक उत्पादन का अर्ध-उन्माद साम्यवाद पर सवार न हो जाए, जनहित-विरोधी तथा सुख व शान्ति का आघात करने वाले शस्त्रास्त्र,

विलास के वृश्चिम साधन, एवं शौचित्य व आश्चर्यकता का ध्यान न रखकर पदार्थ-उत्पादन न हो, भूट सुख का मुनागा या भृंग नृप्या उत्पन्न कर तथा आत्म ग्थित सुख म्नात को अपेक्षित दर बाह्य पदार्थों ॥ ही सुख बूँदने की महामारी न पैज, इसके लिय निरन्तर ही अपरिमहबाद बहुत उपशोभी व सार्थक है । यद्यपि साम्प्रदाय साधक व योद्धि उन्नति के प्रान को अवहलना की दृष्टि में नहीं लेवता है, फिर भी इमग वई म्नेह नहीं है कि मम भौतिकवादी विचारधारा की प्रधानता है । जब कि अपरिमहबाद व भौतिकवाद म्सी मीमा तक मान्य वा मद्य है जहाँ तक बाह्य पदार्थों की नैमित्तिकता अतिबाध्य वा अवारहाय है । इम तरह प्रगनन एवं भौतिकवादी और म्दरी अथात्मवादी विचारधारा है और इम अपेक्षा म दोनों वा म्दुलन वा सामन्स्य वरम इए व अष्ट है । दनों साम्प्रदाय व अपरिमहबाद अथात्म-साम्प्रदाय की रागमधारा प्रवाहित म् वाह्य भीतर दोनों ओर से प्थष्ट व ममष्टि दोनों की अपेक्षाओं से अवशा हर दृष्टि से प्रकृति निवृत्ति में समन्वय सागर मात्र जीवन को सुगी व समद्विशास्त्री यगा म कृटे मानव-देह को, साथ साथ ही मन शक्ति अथवा आत्मवेतन को भी, गिरागी व बलिष्ठ बनाने के कथ में मिल म् संलग्न हो, ता कई कारण नहीं कि जीवन-सुख विकसित होकर चेतन-उन्नत में सुख-मोरम ध्यात न हो, अथवा म्दर्स समान, तथा उम में म्दरी व गिरादन्, एवं प्रम, सद्भावना व मानवता से ओत प्रोत माननीय जीवन मुलभ व हो ।

प्रश्न—आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता मिश्रण में क्या आध्यात्मिकता घट व होगी ? अथात्मवाद क महत् आत्मा पर ही जीवन को स्थित क्यों न किया जाय ? आखिर, भारत

की परम्परा भी यही है । भारत अध्यात्म प्रधान देश है । क्या आप चाहते हैं कि भारतीय मानव कुत्ते के समान पेट-भरू जीवन को आदर्श समझ कर मिखमगों की तरह रोटी का सवाल रखे और इस तरह भावता की निष्कृष्ट फलपना कर अपनी अध्यात्मवादी परम्परा पर मौतिस्वाद की कार्लिन्य लगाये ?

उत्तर—पहिले तो यहाँ यही प्रश्न उठा होगा है कि आध्यात्मिकता वास्तव में है क्या ? निश्चय ही वह आत्मा या व्यक्तित्व के अन्तर्लोक से अपेक्षित कोई विगत भाव या अनुभूति होनी चाहिये । ईश्वरवाच से उसका अनिवार्य सम्बन्ध माय नहीं किया जा सकता । जैन और बौद्ध परम अध्यात्मवादी हैं, पर वे अनीश्वरवादी हैं । सभी प्राणी ईश्वर रिता की समान हैं, अतः भाई भाई हैं वा प्रत्येक प्राणी में एक-ही आत्मा है, अतः सब समान हैं, योंही ही अध्यात्मवादी विचारधाराये नारे प्राणी जगत में साम्य व अये-भावना लाती हैं, विशेषतया मानव जाति की एकता व अखण्डता की मायता को पुष्ट करती हैं । सत्येव जयते, सत्यम शिवम् सुन्दरम्, अहिंसा परमो धर्म, जियो और जीने दो (Live and Let Live) व सुधैव कुटुम्बकम्, आदि सभी महामंत्र इसी अध्यात्म-तरव का विशदीकरण करते हैं । प्रेम, दया, शान्ति, सेवा, महयोग, ये सभी शब्द आध्यात्मिकता के भाव-मूलक तत्त्वों का ही प्रकटीकरण करते हैं । निश्चय ही ऐसी महान् अनुभूति, भावना या विचारधारा से निष्पेक्ष आध्यात्मिकता विहायना ही नहीं जा सकती है । कोई भूखा न मरे, कोई बेकार, ठाली और निकम्मा न हो, कोई अपद या अज्ञानी न रहे, कोई शोषित, रस्त व पन्थन न हो, ये मजुल व सुमधुर भाव आध्यात्मिकता से अभिप्रेत होन ही चाहिये । हिंसा-प्रतिहिंसा, शोषण, पराधिकार-

अपहरण या औचित्य की सीमा से अधिक स्वलाभ की इगर्थ-
 लिप्सा, ऊँच नीच के भेद भाव की अर्कार प्रथ निरृष्ट कहना,
 ईर्ष्या, रसद्वी व शत्रुता की कुम्भित भावना, झलकपट व
 बेईमानी की नीति, किसी भी मनुष्य को उसके मनुष्योचित
 जन्म भिन्न अधिकार को न देने का लुगपह, निरीह व निर्दोष
 प्राणियों को पीड़ित व प्रताडित करने की राक्षसी वृत्ति और ऐसी
 मारी चाहिगत बातें, चाहे वे किन्हीं भी नाम या दुहाई को
 लेकर ली जायें, अथवा उनके पछे कितनी ही लम्बी परम्परा का
 पीठबल हो, आध्यात्मिकता, मन्वी आध्यात्मिकता, के लिये
 अमूल्य न हों तो कौन इसे दूर में ही प्रणाम न करेगा ? और
 न सुराज तो से पाक मारु आध्यात्मिकता के मानवतामय
 आत्म शुद्ध प्रज्ञान धार्मिक स्वरूप के आगे कौन नठ मस्तक
 न होगा ?

पर ये आध्यात्मिकता की दुहाई देने वाले इस मन्वी
 आध्यात्मिकता को मानने ही कहां हैं ? क्या वे वस्तु आध्या-
 त्मिकता का राग अलापना भर ये जानते हैं ? सच्ची आध्या-
 त्मिकता को प्रतिष्ठित कर भीतिकता के इस उन्माद को मिटाने की,
 जो जगत में सुडाग्नि भटकाता रहा है और जिनके सिर पर
 असंख्य नर-नायियों का खून मधार है उठ चिता नहीं है । आध्या-
 त्मिकता की अति विकृति या उन्माद में इवाई बातें करना
 रक्षयवाक्य का आश्रय लेना अस्पष्ट या मोलमाल और मुलाया
 देने वाली परिभाषाओं व मोल माले लोगों को डालना, घम
 और सत्कृति की लम्बी चौड़ी बातें बनाना, पूर्वजों व परम्परा
 की अधोपासना करना, घम यही उनकी आध्यात्मिकता मिमट
 कर रह गई है । आत्मात्मिकता का स्पष्ट स्वरूप के सामने
 क्या रखेगे उनके सामने भी वह

की परम्परा भी यही है । भारत अध्यात्म प्रधान देश है । क्या आप चाहते हैं कि भारतीय मानव कुत्ते के समान पेट-मरु जीवन को आर्श समझ कर भित्तभग्नों की तरह रोटी का सवाल रखे और दम तरह मानवता की निपट्ट फलपात्र कर अपनी अध्यात्मवादी परम्परा पर भौतिकवादी की कार्लिस लगाये ?

उत्तर—पहिले तो यहाँ यही प्रश्न उठा होता है कि आध्यात्मिकता वास्तव में है क्या ? निश्चय ही वह आत्मा या व्यक्तित्व के अतर्लोक में अपेक्षित कोई विराट भाव या अनुभूति होनी चाहिये । ईश्वरवाच से उसका अनिवार्य सम्बन्ध माय नहीं किया जा सकता । जैन और बौद्ध परम अध्यात्मवादी हैं, पर ये अनीश्वरवादी हैं । सभी प्राणी ईश्वर पिता की सतान हैं, अतः भाई भाई हैं, या प्रत्येक प्राणी में एक-ही आत्मा है, अतः सब समान हैं, ये दोनों ही अध्यात्मवादी विचारधाराये सारे प्राणी जगत में साम्य व अभेद भावना लाती हैं, विशेषतया मानव-जाति की एकता व अखण्डता की मान्यता को पुष्ट करती हैं । मत्मेव जयते, मयम शिरम् सुन्दरम्, अहिंसा परमो धर्मः, जियो और जीने दो (Live and Let Live), वसुधैव कुटुम्बकम् आदि सभी महामंत्र इसी अध्यात्म-तत्त्व का विशदीकरण करते हैं । प्रेम, दया, शान्ति, सेवा, सहयोग, ये सभी शब्द आध्यात्मिकता के भाव-मूलक तत्त्वा का ही प्रकटीकरण करते हैं । निश्चय ही ऐसी महान् अनुभूति, भावना या विचारधारा से निरपेक्ष आध्यात्मिकता विद्यमान ही कही जा सकती है । कोई भूखा न मरे, कोई धेकार, ठाली और निकम्मा न हो, कोई अपद्रव या अज्ञानी न रहे, कोई शोषित, अस्त व पद नित न हो, ये मजुलुख सुमधुर भाव आध्यात्मिकता से अभिप्रेत होने ही चाहिये । हिंसा प्रतिहिंसा, शोषण, पराधिकार-

आध्यात्मिकता का जमाना वे नहीं समझ पा रहे हैं, और इमीति
 वे इन गुराफातों को भी ठीक तौर पर नहीं देख पाते हैं जिन्हें
 जमाना ने जन्म लिया है। उदाहरण के लिये वर्ण व्यवस्था
 उस खुनी व पीलादी पत्ते को देखिये जो आध्यात्मिकता
 मरुमली दस्ताने में छिप कर फरोहा नर नारियों के लिये
 पृथ्वी को नरक बनाता रहा है, और अभी भी बहुत कुछ बचा
 हुये है। स्त्री का उदाहरण लें तो यहाँ भी यही अत्याचार है।
 अध्यात्मवाद के नाम पर स्त्री को खूब रौंटा गया है,
 पीड़ित व पद दलित किया गया है, यहाँ तक कि स्त्री-नामधे
 व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व ही अमान्य कर दिया गया
 राह्य क्रिया काण्ड के उत्पीड़न व निरर्थक कष्ट-सहन की ओर
 भी खूब चली है 'अध्यात्मता' की छाछाया में। माय ही मु
 वाँ या तर्क में काम न लेने की, अंधमट्टा में प्रियेक भ्रष्ट
 मूढताओं में डूब जाने तथा आस मीच कर अन्यायुत्तरण व
 की, क्या हम प्रेरणा दी है इस 'आध्यात्मिकता' ने ? और
 कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं 'आध्यात्मिकता'
 विनाशकारी लीला के। इतनी हत्याएँ हुई हैं, इतने अन्या
 अत्याचार, हुये हैं कि उनकी गणना भी मानवीय शक्ति में
 है। सचमुच जहाँ तक हमारे इस 'अध्यात्म प्रदान' देख
 सम्बन्ध है, आध्यात्मिकता की धमी ने नहीं, उसरी अति
 विकृति ने सर्वनाश किया है। आध्यात्मिकता का यह नशा
 उमाद मिट सच्ची आध्यात्मिकता की ज्योति हमारे जीव
 जगमगाये, अरुन इस बात की है, पर हम कर
 रह हैं, कि आध्यात्मिकता को टुहाई देकर फिर उमी नरे
 सिर पर मवार करना चाहते हैं, जो शायद आज कुछ ब
 लगा है। और ।

रहा रोगी का प्रश्न । इसे भिखमैंगी या मानरता की निरृष्ट
 कल्पना कहने में कल्पना अमन की आध्यात्मिक दृष्टि को भले ही
 सतोप से लिया जाय पर यथार्थता, वास्तविकता और सत्य के प्रति
 इसमें न्याय नहीं हो सकता । अध्यात्मवादी की बातें भी नभी
 होती हैं जय पेट भरता होता है । जो भूखा है, उसे पहिले रोटी
 चाहिये, अध्यात्मवाद की लम्बी चौड़ा बातें नहीं । लय पेट भर
 कर भूखों को आध्यात्मिकता का उपदेश देना और ये रोटी का
 प्रश्न सामने रखें तो उस पर उन्हें कुछा और भिखमगा बहाना
 अभिम भणों की सूरता है । जहाँ योगोचिन अधिकार लेने का
 प्रश्न है, वहाँ मांस मागने की वृत्ति कैसी ? भीख के लिये तो
 स्थान वर्ण-व्यवस्था में है, उल्लिख भीख मिश्रा या दान तो हमारा
 आधार ही है । रोटी का सवाल तो उस भिखमगी का ध्यान कर,
 सुपवखोरी और दरामखोरी को भिटाकर, भम को प्रतिष्ठित कर
 तथा आरश्यकता के अनुसार स्नायु व भोगोपभोग की
 सामग्री पाने का मसाल है । कुत्ते या पशु की तरह रोटी
 की भीख मागना और जो टुकड़ा मिल जाय, उसी में संतुष्ट
 रहना, यह पशुता छोड़ कर आज का भूखा मनुष्य मानयोचित
 रूप से पेट भर राने का अपना अधिकार माग रहा है, और
 इस तरह वर्ण-व्यवस्था तथा 'आध्यात्मिकता' की बहकी हुई बातों
 ने जिस मनुष्य को हजारों वर्षों में कुत्ता बना रखा था, अब वह
 कुत्ता मनुष्य बन रहा है ।

रही भौतिकता की बात । मनुष्य शरीरधारी है, इसी
 लिए शरीर में टिकने का प्रश्न उस की सुराक का प्रश्न,
 उस के जीवन व सरक्षण का प्रश्न ही उस का सब से बड़ा प्रश्न
 है । आरश्यकता व औचित्य की सीमा तक स्वाद्य व अद्य
 सामग्रियाँ उपजाने, पाने और काम में लाने का प्रश्न, रोटी-

कपड़े का मराल, जरा भी लज्जास्पद नहीं है, अल्ग उमें नीरी छट्टि से देखने का अभिनय अनपूर्ण है, मायाचार है। हॉ यठ तो छटा जामकना है कि भागेपमोग की अन्यविक लालमा न हानी याहिण पाद्य पत्थों की शमता न हाती चाहिए, पत्थर हमारे छिप रहें पर हम पत्थरों क लिय न रह जाने चाहिए, गरुष यह कि भीतिकता की अति न होनी चाहिये । इमीलिण हमने आध्यात्मिकता की उपयोगिता समझी है और भीतिकता के साथ उस मिलाकर दोनों क सामंजस्य पर खोर गिया है ।

प्रश्न—आत्म-व्यातन्त्र्य या व्यक्ति की स्वतन्त्रता अध्यात्म-मूलक अपरिग्रहण का एक मौलिक तत्व है। पर साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति एक मशीन का पुष्पा मात्र है, जडवत् है, गुलाम है, यहाँ तक कि वह स्वेच्छा से न सम्पत्ति रख सकता है, न धनोपार्जन कर सकता है। भला, क्या आजादा और गुलामी के बीच भी सामंजस्य होना संभव है ?

उत्तर—आज हम में साम्यवादी का प्रयोग निम्न रूप में किया जा रहा है उसे ही नष्टिगत कर यह आरंभ किया गया है कि साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति स्वातन्त्र्य से निरधे स्थान नहीं है, पर तन्तु-रिपति ऐसी नहीं है । वास्तव में वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जो कुछ अपहरण यथार्थ में हुआ है वह साम्यवाद ने नहीं तानाशाही या डिक्टेटोरशिप ने किया है और साम्यवाद का कोई अनिर्णय अन्योनाग्रय या छरग अर्थ मध्य न तानशाही में नहीं है । सच यह है कि साम्यवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है पर वह निश्चय ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता का घोर विरोधी है जो हमरा की कमाई हडपना, हमरा का शोषण करना, मित्वाती है । व्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं नष्ट सीमित रहनी चाहिये

वैयक्तिक सम्पत्ति परिग्रह है

परिग्रह की इस कमीटी पर वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रश्न को दसों तो हम इस निर्णय पर आग्रह प्रितान रहेगे कि सम्पत्ति य सद्व्यय अर्थ-व्ययस्था परिग्रह-मूलक ही है। आशिर, वैयक्तिक सम्पत्ति ही सम्पत्ति है जिस पर व्यक्ति विशेष का एकाधिकार हो, और स्पष्टत ही जहाँ एकाधिकार है वहाँ अपनत्व की, मेरे पन की, गूढ़ भावना होना अनिवार्य ही है। एक पदार्थ पर मेरा ही स्वत्व है तो स्वभावन में -मे विशेष-रूप में चाहूंगा, उसे खूब सभाल कर रखूंगा, ममी चौकीगरी करूंगा, उससे खो जाने या चोरी चले जाने पर दुखी होऊँगा, कोई -मे जबरदस्ती लेना चाहेगा तो -म में लड़ूंगा, कोई धोखे में ले लेगा तो उम पर मुकदमा चलय करूँगा तथा यह व्यर्थ भी पड़ा रहे तो भी दूसरा को उमरा उपभाग या उपयोग व करने दूँगा अथवा यदि करन दूँगा, तो यह उन पर अपना अहमान समझूँगा। यही मय मूर्च्छा है ममत्व है आत्मिकि है, और इसी का नाम परिग्रह है।

वैयक्तिक सम्पत्ति, व्यक्ति व समाज, दोनों के लिए अहितकारी व घातक है

फिर, साथ ही वैयक्तिक सम्पत्ति विषमतामूलक तथा समाज के लिये दुस्वभावी है। वह योग्यतानुसार सबको समान अवसर देने में बाधक होने में अश्यायमूलक भी है। सौ म दस-पाँच व्यक्ति ही सम्पत्ति के बल पर सावन-मम्पन्न होने से ऐसे अरसर पा सकते हैं, शेष व्यक्ति हर प्रकार योग्य होने पर भी इसीलिये वंचित रह जाते हैं कि उनके पास 'सम्पत्ति' नाम की चीज नहीं है। यह समाज के बहुभाग का अथवा सामूहिक

दृष्टि ने समस्त समाज का कितना बड़ा अहित या सर्वनाश है ? फिर, इन माधन-सम्पन्न सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का भी क्या सचा विकास हो पाता है ? क्या व्यक्तित्व के सामूहिक या अनर्मुली विकास के बीज यहाँ हैं ? सम्पत्ति का बड़ा हुआ व्यक्तित्व भी कोई सचीव व्यक्तित्व है ? व्यक्ति के पास क्या और कितने बाह्य पदार्थ हैं ? इसके आधार पर उसने व्यक्तित्व के निर्माण क्या ठाक है ? साम्त्व में इस वैयक्तिक सम्पत्ति ने व्यक्तित्व को भरमाया और गिराया ही है । इसका ध्येय विकास नहीं, लाम (तथा-कथित 'शुभलाम') या मुनाफा है । वैयक्तिक सम्पत्ति ने दृष्टि को यहाँ तक बिगाड़ा है कि व्यक्ति रगने को महार दता है होने' को नहीं । व्यक्ति यह भूल गया है कि उसके उत्कर्ष या विक्रम इस-में नहीं है कि उसके पास क्या है, बल्कि इसमें है कि वह क्या है ? व्यक्तित्व वास्तव में यह है जो व्यक्ति के भीतर है और यही महत्त्वपूर्ण भी है । जो यह हर है, वह गीण है, हय है । सधमुच एक ओर जो अपार सम्पत्ति रसना है, उसका व्यक्तित्व बसते भ्रष्ट होता है, दूसरी ओर जो जावन निर्वाह के लिये, आवश्यक सामग्री का भी महंगा या खर्च नही कर पाता है, उसका भी व्यक्तित्व खोभ, ईर्ष्या, हून व लिप्सा की दुर्भावनाओं का शिकार होने में पतिन, होता है । वास्तव में न शापक का ही, व्यक्तित्व ऊँचा है, न शोषित का भी । क्या अम्यायी, क्या पीडित, होना पतिन है । जब, तब यह भेद भाव नही मिटेगा तब तक व्यक्तित्व का सचा रूपाने के अनुकूल वातावरण व परिस्थितिया का निर्माण नहीं हो सकता, और यह तब तक सम्भव है जब तक इन भाग परम की मूलाधार वैयक्तिक सम्पत्ति का ही न निर्माण दिया जाय । अतः वैयक्तिक सम्पत्ति को मिटाया व्यक्तित्व को बाध निवृत्त परिस्थितियों

की दासता से मुक्त करना है, सच्चे व्यक्ति के निर्माण का प्रयास करना है, जीरा-फला को परिपुष्ट करना है । मगर यह कि वैयक्तिक सम्पत्ति मिटने पर ही व्यक्तित्व जगता । जीना संसार में दुर्लभ है । अपरिमहवादी इसी जीवन-दर्शन का मन्त्र देता है । यह कहता है कि धातु पत्थरों की दासता को मिटाओ, तुम्हारे व्यक्तित्व को इस धन सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है, तुम्हारा व्यक्तित्व तुम में बाहर नहीं है, तुम्हारे भीतर है ।

अखिर, अपरिमहवाद यही तो कहता है कि आवश्यकता में अधिक परिग्रह को प्रदण न करो, तथा जो कुछ भी प्राप्त करो, तदर्थ भाव में महग करो । जब व्यक्तिगत सम्पत्ति मिटती है, वैयक्तिक लक्षाधिकार की या व्यक्ति-विशेष के स्वामित्व की भाषना लुप्त होती है, अथवा जब सम्पत्ति का स्वामित्व सार्वजनिक हो जाता है, तब एक तो व्यक्ति की आवश्यकता समाज में नुमोदित होने से मर्यादित रहगी, दूसरे जो भी पदार्थ का सामग्री व्यक्ति को मिलेगी वह उसका उपयोग या उपभोग करते हुये भी उस में आमक न होगा और इस कारण उसके मानस जगत में विचार भावों की आँगी न चलेगी । अपरिमहवाद मन्त्र ही आवश्यकतानुसार अनासक्तिपूर्ण उपभोग चाहता है । अतः हम महज ही यहाँ इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अर्थात्क वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रग्न है, साम्यवादी व अपरिमहवाद दोनों में पूर्ण मतैक्य या सामजस्य है ।

ट्रस्टीशिप

यहाँ महज ही हमारा ध्यान 'ट्रस्टीशिप' के इस मुद्दाव की ओर जाता है कि वैयक्तिक सम्पत्ति को नष्ट करना न आवश्यक है और न वाञ्छनीय ही है, इतना ही यथेष्ट व उचित है कि

उत्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' बन जाय अपनी सम्पत्ति को समाज की ही सम्पत्ति समझे और समाज के हित-साधन में उसे लगाये ।

'ट्रस्टीशिप' में आम्हा रखने वाले कुछ इस तरह मोचते हैं—
समझ करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिये ही सकता है। जो 'स्व' के लिये समझ लेकर बैठे हैं वे अहिंसा-धर्म की शक्ति सम्पादन नहीं कर सकते । जो 'पर' के लिये समझ लेकर बैठे हैं, वे ही 'ट्रस्टी' हैं । वे समझ रखते हुये भी अहिंसावादी हैं क्योंकि उनके समझ में राग नहीं है ।*

'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा को मन्चे अर्थों में ट्रस्टीशिप नहीं कहा जा सकता

यहाँ 'ट्रस्टीशिप' शब्द को एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । यन्तु 'ट्रस्टीशिप' वही है जहाँ ट्रस्टी ट्रस्ट का प्रबंध-कर्ता या व्यवस्थापक मात्र है, मालिक नहीं है, तथा जहाँ ट्रस्टी ठीक तरह अपने कर्तव्य का पालन न करे तो मालिक को ट्रस्टी बदलने का अधिकार है तथा उस अधिकार का उपयोग करने की शक्ति भी उसे प्राप्त है । पर 'ट्रस्टीशिप' की जिम्मेदारी साम्यता की ओर हमने संकट किया है, जहाँ ट्रस्टी स्वयं मालिक है और मालिक का हेमियन में उसने स्वयं ही अपने आप को 'ट्रस्टी' नियुक्त किया है । समाज के स्वामित्व की बात कहने भर की ही कथानि-
सका आधार समाज का कोई नियम अथवा राज्य का कोई विधि विधान या कानून नहीं बल्कि उस व्यक्ति की जो स्वयं ही

* व.पू.—लेखक श्री. धनश्यामनाथ विद्या

मालिक व 'ट्रस्टी' दोनों है, इच्छा व रुचि ही है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा है—'ट्रस्टी बनने की कल्पना में व्यक्तिगत स्वामित्व का रहना अनिवार्य नहीं है, रहा भी तो नाम मात्र का, जिमसे 'ट्रस्टी' कभी-कभी अपने मन में सुश हो लिया करे कि मैं मालिक भी हूँ।'^{*} कहने की सत्करत नहीं है कि कभी कभी सुश होने के लिये नाम-मात्र की मालिकी की यह बात बोधी व हारयास्पद है। जो मालिकी ही सारी युगाइयों की जड़ है और जो मालिक को सक्का ट्रस्टी बनने ही नहीं दे सकती है, उसे लेकर इतनी हल्की बात पढ़ना विषय की संभिरता की अशहेलना करना है, एक तरह की खिलवाड़ करना है। और भी एक स्थल पर आपने लिखा है— 'यदि मालिकाना हक रहा भी तो वह नाम मात्र का रहेगा, स्पिरिट (Spirit) तो ट्रस्टी की ही रह सकती है।'[†] स्पष्टतया यहाँ इस मनोज्ञानिक सत्य की पूर्ण अशहेलना है कि जहाँ स्वामित्व की अनुभूति है वहाँ ट्रस्टीशिप की स्पिरिट टिक ही नहीं सकती है। दोनों में कोई सामंजस्य ही नहीं है। और, यह कहना कि 'ट्रस्टीशिप' की कल्पनाओं में व्यक्तिगत स्वामित्व अनिवार्य नहीं है, क्या अर्थ रखता है ? स्वामित्व के लिये तभी तो ध्यान न रहगा जब मालिक स्वयं अपनी संपत्ति पर से अपना अधिकार हटाल या उसकी मालिकी शर्माज को सौंप दे। यहाँ तो 'ट्रस्टीशिप' के मूल में ही स्वामित्व जमा पड़ा है। तथा कथित ट्रस्टी की इच्छा या मरजी ही यहाँ सब कुछ है। वह चाहे तो 'ट्रस्टी' है न चाहे तो कुछ नहीं है। गरज यह कि 'ट्रस्टीशिप' का मूल भाव व अभिप्राय यहाँ है ही नहीं। फिर भी, क्योंकि हम विचार-वारा को 'ट्रस्टीशिप' की

*गोधावाद समानवाद—पृष्ठ ६२

†गोधीवा समानवाद—पृष्ठ ६६

संज्ञा दी गई है, शिष्टना के नाते हम 'इसी नाम से हम विचार-धारा का उल्लेख करेंगे।

ट्रस्टीशिप का आधार ठोस नहीं है

सबसे पहिले जो बात यहाँ सटकनी है, यह यह है कि अर्थ-व्यवस्था के प्रश्न को मौलिक दृष्टि से यहाँ नहीं देखा गया है। यहाँ पूँज-भूमि में ही अर्थ-वैषम्य है। अथ तक पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत जो आर्थिक शोषण होना आया है, उसके परिणाम को आधार मूस मान कर चलने की ही दृष्टि यहाँ है। शताब्दियों बहिन महत्साधियों से होते रहने वाले असाध्य के प्रतिकार का प्रश्न आमूल परिवर्तन की प्रेरणा देने के लिये यहाँ नहीं है। ऐसे समाज का ही चित्र यहाँ सामने है जिसमें धाँडे से ही व्यक्ति धनवान हैं। 'धनवान' में अभिप्राय उम्र व्यक्ति से है जिसमें धन आवश्यकता से अधिक धन है। 'ट्रस्टीशिप' में ही अतिरिक्त धन की अपेक्षा रहता है। स्पष्टतः यहाँ व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का उपार्जन व सभ्रह करे और उस पर अपना अधिकार जमाये रखे। इस सभ्रह व स्वामित्व पर कोई अंकुश यहाँ नहीं है। अंकुश अतिरिक्त सम्पत्ति के उपयोग या भोगोपभोग मात्र पर है, अतिरिक्त सम्पत्ति की वृद्धि पर नहीं है, और उपभोग या भोगोपभोग का अंकुश भी स्पष्टीकृत होने से उमका कोई ठोस आधार नहीं है।

ट्रस्टीशिप बनाम अपरिमह

इस ट्रस्टीशिप की संगति जब अपरिमह के साथ पिठाई जानी है, तब आश्चर्य होता है। जहाँ तक सभ्रह मात्र का प्रश्न है, निरचय ही अपरिमह से वह बेमेल नहीं है क्योंकि जैसा कि हम

निर्दिष्ट कर चुके हैं अपरिग्रह पदार्थ का नहीं, पण्डित का अपहण है। संग्रह वस्तु की अपेक्षा में अपरिग्रह में दृष्टीशेष की टक्कर मन को अधिक आशाना नहीं है। पर जहाँ तक निजी स्वत्ता या विशेष स्वामित्व का प्रश्न है, जिमी भी तरह अपरिग्रह में न उमका सामाजिक है, न हो सकता है। जो संग्रहकर्ता के निजी स्वामित्व में गुँथा है, वह स्वामित्व व अहंकार में मना है और निर्णय ही वहाँ ममत्व है, मूर्च्छा है, परिग्रह है। 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठन की बात में कोई सार नहीं है जबकि ले बैठने वाला संग्रह का एक-द्वय स्वामी है। इस तरह स्पष्ट है कि अपरिग्रह की कमीटी पर गरी उतरने योग्य क्षमता 'दृष्टीशेष' में नहीं है।

एक धान और है। दृष्टीशेष दाग व त्याग की नींव पर स्थित है, किन्तु अपरिग्रह त्याग मूलक नहीं, अपहण-मूलक है।* त्याग या दान का अपना एक काला नाजू है अतः अपहण में घट निम्न है। 'दृष्टीशेष' अनिश्चित धन के स्वामित्व की नींव पर खड़ा है, जबकि अपरिग्रह का आधार अनिश्चित धन के स्वामित्व की अस्वीकृति है। इस तरह अपरिग्रह की साधना एक भक्त फकीर ही कर सकता है जबकि 'दृष्टीशेष' के विलास में एक धाना ही निम्न हो सकता है। किमी भी पहलू में देखा जाय, हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अपरिग्रह एक उच्चतम मानना है और 'दृष्टीशेष' उसमें बहुत नाचे है। मोनो में कोई महानता या मद्रयता नहीं है। पहिला आर्ग है जबकि दूसरा बुद्ध है तो अधि

*यहाँ 'ग्रहण' से संग्रह मात्र नहीं वह संग्रह विशेष ही अभिप्रेत है जिसे संग्रहकर्ता का निजी व विशेष स्वामित्व जुड़ा हुआ है। हम अपेक्षा से अपहण में संग्रह के लिये स्वान हो सकता है पर स्वामित्व के लिये नहीं।

मे अधिक 'मजदूरी का इलाज' है।

मजदूरी का इलाज

मच तो यह है कि 'ट्रस्टीशिप' के आचार्यों ने भी इसे मजदूरी का इलाज माना है। स्वर्गीय श्री किशोरलाल धनराम मधुमाला की यह स्वीकारोक्ति स्पष्ट है—“गांधी जी ने मिटाने के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास किसी भी तरह का परिग्रह न होना चाहिये। सम्पत्ति के व्यक्तगत परिग्रह को वे नष्ट लेते हैं इसका यह कारण नहीं कि उन्हें सम्पत्ति या परिग्रह न माना है, अथवा यह कि मनुष्य-जाति के उत्कर्ष के लिये वे सम्पत्ति के संग्रह को आवश्यक समझते हैं, बल्कि कारण यह है कि व्यक्तिगत परिग्रह बढ़ाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्यापनी मार्ग उन्हें नहीं मिला है।”^{*} इसी तरह श्री० हरिभाऊ उपाध्याय ने भी कहा है—“समाजशास्त्री तो कहते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार किसी को न होना चाहिये। इधर गांधी जी भी अपरिग्रह व पुनारी हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तो ठीक आवश्यक वस्तुओं के संग्रह को भी बोरी मानते हैं। तो दोनों इस बात पर तो सहमत हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, पर यदि लोग हमारे कहने से या उपदेश से न छोड़ें तो ? तब समाजशास्त्री कहेगा कि ज्ञानून बनाओ जिससे ऐसा अधिकार किसी को न रहे। परन्तु प्रश्न तो यह है कि गांधी-वादी एम अरसर पर क्या सलाह देगा ? मैं समझता हूँ समय आने पर गांधीवाद कोई अहिंसक उपाय अरस्य ट्रेंड निम्नतया।”[†] इन उद्धरणों में जो मात्र प्रतिपासित होता है, वह यही है कि आर्थिक समानता के आदर्श तक पहुँचने का मार्ग

* गांधीवाद समाजवाद—पृष्ठ १११

† गांधीवाद

सामने न होने के कारण, मजदूरी की हालत में, 'ट्रस्टीशिप' से ही सतोष कर लिया गया है।

महज दोष

यूँ भी 'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा में अनेक अयोग्यताएँ हैं। इस कारण "मे लेकर अनेक जजिल प्रश्न खड़े होते हैं। उदाहरणार्थ यह प्रश्न महज ही उठता है कि व्यक्ति का निर्जा आवश्यकता का मापदण्ड कौन और किन तरह स्थिर करे ? क्या व्यक्ति का ही स्वतंत्रता का अधिकार हों ? यदि हाँ तो यहाँ का उद्देश्य स्वतंत्रता का प्राप्ति होना स्वाभाविक ही है, उसकी गति बाम कैसे हो ? फिर परहित या अहित का प्रश्न भी खड़ा है। एक व्यक्ति को जिस कार्य में समाज या जगत का उत्थापन करने की उम्मीद जगत या अहित या सर्वज्ञान निर्दिष्ट करता है। कोई व्यक्ति अपने धन का किसी कार्य विशेष में उपयोग करे तो हमारी क्या गारंटी है कि वह सदुपयोग ही है। यहाँ हित निकट है तो अहित भी दूर नहीं है। व्यक्ति विशेष कार्य विशेष में जगत का उद्धार समझ सकता है, पर यद्यार्थ में वह कार्य जगत के लिये सर्वज्ञानकारी हो सकता है। ऐसी हालत में हित का आश्वासन कैसे हो और अहित की आशंका का निराकरण कैसे हो ? स्वतंत्रता हमारे लिये सहायता ही पर्याप्त नहीं है। चाहने पर भी व्यक्ति हम विषय में असहाय है। क्योंकि वह अपनी दृष्टि में ही तो स्वतंत्रता और जबकि कुछो उस व्यक्ति के हाथ में है तो हमारे भी असहाय ही है।

स्वेच्छित्तन न स्वतन्त्र अनुमति

कहा जाता है कि 'ट्रस्टी' अपनी इच्छा से नहीं, समाज

की अनुमति से ही अपने अतिरिक्त धन का उपयोग करेगा । पर यह कहने भर की बात है । कौड़ी बरानर भी इसका व्यावहारिक मूल्य नहीं है । स्वामित्व व्यक्ति विशेष का हो तब दूसरों की अनुमति का क्या अर्थ है ? जिसे अधिकार ही नहीं है, वह अनुमति देने वाला कौन ? मैं काम कर्तुँ अपनी मरजा मे और कहूँ कि समाज की अनुमति से कर रहा हूँ, तो यह तो वही कहावत हुई कि 'मान न मान, मैं तेरा महमान' । यह समाज की प्रतिष्ठा नहीं, इसका उपहास है । 'अनुमति' तभी अनुमति है जब सर्वांग के वल्लंघन को रोकने की सामर्थ्य भी उसके पीछे हो । जहाँ केमा कोई शक्ति नहीं है, वहाँ परानुमति नाम की कोई चीज नहीं, सिद्धा मात्र ही है, फिर भले ही हमे सारी दुनिया की अनुमति ईद कर मन को सभझा लीजिये या ईश्वर की प्रेरणा कह कर । हम मरुवाई को एक तरह से स्वर्गीय श्री० किशोरलाल चन्द्रधाम मधुवाला मान्य भी करते हैं, जब वे कहते हैं—'मनुष्य के मुख-पूरक निर्वाह के लिये अितना आवश्यक है, उसे छोड़ कर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरों की अनुमति से ही किया जा सकता है, फिर भले ही वह अनुमति निर्बलतावश ही गई हो या अज्ञानवश*' । कितने स्पष्ट रूप से 'दृष्टीशेष' की जड़ म लिपटी भूठी या अर्थहीन अनुमति को मधुवाला जी स्वीकार कर बैठे हैं । यद्यपि आगे चल कर मधुवाला जी ने जनता को चलयान और सावधान बनने की आवश्यकता बताई है, पर साथ ही जब वे कहते हैं कि जनता में उत्पन्न क्रिया जाने वाला चल अर्हिसामय ही होना चाहिये, और फिर तुरन्त ही यह कह कर कि 'इस विषय की इसमें अधिक चर्चा आज नहीं की जा सकता क्योंकि गांधी जी और उनके विचार मे सहमत उनके

माथी इसे प्रत्यक्ष आचरण में लाने का प्रयोग अभी तो कर ही रहे हैं। मारे प्रश्न को टाल देते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाना है कि समाजानुमति की बात में कोई प्राण नहीं है। निर्मलता या अज्ञानतावश दी गई 'अनुमति' को अनुमति कहना, अनुमति के भावपक्ष व अभिप्राय का मर्यादा उड़ाना है। अनुमति स्वच्छिन्न न हो तब उसका क्या मूल्य है ?

मजबूरी क्यों ?

इस तरह हम देखते हैं कि 'ट्रस्टीशिप' की विचारधारा अपने में ही गठी हुई नहीं है, वह अस्त व्यस्त है, लचीली व ढीली है और उसे मजबूरी का इलाज समझना भी अर्थहीन है। पहिले तो यह ही धेतुकी बात है कि मार्ग सामने नहीं है तो मजिल को ही आँसों में ओगल कर दें, या व्यवहार को इतना सिर पर चढ़ा लें कि आदर्श को नीचे उतार फेंके। साधन ठीक हो, यह आग्रह माना जा सकता है और इसे मान कर साधनों का अनुसंधान चालू रह सकता है। आखिर, यह मजबूरी का होना क्या शोभनीक है ? गांधी जी ने कहा है कि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं के साधनों पर जनता का अधिकार होना चाहिये, उन्हें लेन-देन की चीज हरगिज नहीं बनने देना चाहिये।*

* गा. जीवाद समाजवाद पृष्ठ—११

* मेरी राय में हिन्दुस्तान की घोर सारे संसार की अर्थ व्यवस्था ठेकी होनी चाहिये कि उसमें बिना खाने और कपड़ के कोई भी रहने न पावे। यह आदर्श तभी सिद्ध होगा जबकि जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ पूरी करने के साधनों पर जनता का अधिकार रहेगा। जिस प्रकार भगवान की पैदा की हुई हवा और पानी सब को मुफ्त मुयस्वर हाते हैं या होना चाहिये उसी तरह ये साधन भी सब को बेरोकटोक मिलने चाहिये। उन्हें दूसरों के हड़पने के लिये खन देन की चीज हरगिज नहीं बनने देना चाहिये।

सम्राट्ट यहाँ समाजीकरण का आग्रह है, भले ही यह एक हद तक ही हो। पर प्रश्न तो यह है कि इन साधनों पर व्यक्ति को मात्र जो आवश्यकता में अधिक अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें जनता को अपने क लिये किस उपाय का सहारा लेना होगा ? वह रजामंदी में न दे, तो ? कानून बनाना नहीं है, क्योंकि हममें 'हिंसा' है। फिर क्या किया जाय ? मत्याग्रह पिकेटिंग, असहयोग आन्दोलन ? तो फिर क्यों न अपरिग्रह की माधना ही इन अहिंसाओं में की जाय ? क्यों फिर अद्वारण धोरी को जायद बनाने की मजदूरी में अपने को डाला जाय ?* गुलाम राष्ट्र को आजाद करने के लिये इन अस्त्रों का संवाजन हम कर सकते थे, और संसार की मजस बढी शक्ति का, मजसे बडे साम्राज्य का, मोरचा ले सकते थे, तो फिर क्या कारण है कि अपने ही भीतर के पू जीवादी या समाज विरोधी वर्ग को नहीं मुका सकते ? क्या उनकी मिला, कैकटरियों, दूकानों या गोशाला पर पिकेटिंग नहीं की जा सकती ? क्यों उनक माध असहयोग नहीं किया जा सकता ? क्यों उनके माल का घायकाट नहीं किया जा सकता ? क्यों उनका ही बहिष्कार नहीं किया जा सकता ? आखिर, अहिंसा के भी अस्त्रागार में क्या कमी है जो दीनता से भरी धातें बढी जायें और अपनी विवशता व असहायता पर आम् बडाण जाय ? एक घाटगी शत्रु का हृदय परिवर्तन तक करने का दावा किया जा सकता है तो फिर अपने ही थोडे में भाइयों को राह पर लाना क्या कठिन है ? उल्ले जनन का सहारा, अगर

*श्वेक उद्यमी मनुष्य का आजीविका पाने का अधिकार है मगर धनापार्जन का अधिकार किसी का नहीं। मज कहे तो अशोकाजन स्वेय है धारी है। जो आजीविका से अधिक धन लेता है वह जानमें हा वा धनपान में दूसरा का आजीविका छीनता है—हिंदी नवनीयन, १२ ६ ६।

त्रिद ही है। पर अहिंसा के दिव्यास्त्र को तो जंग न लगायें ? अहिंसात्मक उपाय सामने नहीं है, यह कह कर अहिंसा को उपहाम का विषय तो न बनायें ? अहिंसा की दुहाई देते न थकें, वक्त ने-वक्त उम्मी की दुहाई दे, पर जब उसके प्रयोग का अवसर सामने आए तो उसे विश्वासता व अकर्मण्यता के अणुगुण में द्विपा कर पलायन कर जायें, यह क्या उचित है ? आखिर, जैसे जैसे परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहेगा, अहिंसात्मक अस्त्रा के उपयोग का तरीका भी बदलता रहेगा। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। पर आविष्कार का मार्ग तो प्रशस्त रहें। अतः क्यों न हम अपरिमह के महत् आदर्शों की बात साफ साफ कहें और घोषणा करें कि हम अहिंसा के पथ पर चल कर अपरिमहवादी क्रान्ति का सूत्रपात करेंगे, और तब तक चैन न लेंगे जब तक पूजावादी या परिमहवादी व्यवस्था का अंत न हो जायगा, अथवा अतः तक ऐसी व्यवस्था स्थापित न हो जायगी जिस में कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक पदार्थों पर अधिकार जमाने की चोरी न कर सकेगा, तथा उत्पत्ति व उपभोग के समस्त साधना पर जनता का अधिकार न हो जायगा ?

अहिंसा-विषयक दृष्टिकोण व्यापक व मर्यादीय होना चाहिए

यहाँ अहिंसात्मक पद्धति को लेकर भी कई प्रश्न खड़े होते हैं। उनमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या बहुमत भी हिंसा है ? ६० प्रतिशत जनता पर-मत होकर विधि विधान बनाए गए क्या वह विधान हिंसा पर आधारित है ? और, इस कारण क्या समाज का हर नियम, राज्य का हर कानून, हिंसात्मक है ?

दि हिमा जहिमा को देखने का यही दृष्टिकोण है, तब तो मानव जीवन एक ऐसी पहिली बन जाएगा जो मुलभाप न मुलझेगी ? फिर तो फौज, पुलिस कचहरी, न्याय प्रणाली, दरद-व्यवस्था, सभी का अंत करना होगा ? पर क्या कभी यह हो सकता ? जिस अराजकता का स्वप्न, क्या गांधीवादी और क्या साम्यवादी, सभी अपनी अपनी दृष्टि में मन्वते हैं कभी सावार हो सकता ? कल्पना आगिर कल्पना ही है । उम लेकर आज के जीवन सपर्य की तद्-जन्य परिस्थितियों का अवहोना करना क्या बुद्धिमानी है और क्या यह संभव भी है ? कल्पना का एक मूय है यह आधीकार नहीं किया जा सकता । कल्पना आगिर की अननी है । वह बुद्धि की सती व सहायिका है । वह आदर्श प्रेरणा का स्रोत है । वह निरंतर यह चेतावनी देती है कि हमारी आदिरी मंत्रिल क्या है ? जब भी हम लडगडगते हैं वह वॉह पकड कर हमें सभालती है । जब भी हम भटकते हैं, वह अंतर्मूर्ति जगाकर हमें मार्ग दिगाती है । इस तरह कल्पना महत्त्वपूर्ण है, मूयवान है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमरा ऐसा चमा हम पर छा जाये कि हम धरती पर न चलें, आकाश में ही उड़ने लगें । बहुमत को अधिका हर नियम व कानून को हिसा रहना बहुत कुछ ऐसी ही हगई उदान है । ऐसी उदानों के चरकर म धर्महीन शोषण विहीन ममान-व्यवस्था के आर्ग को ही नीचे गिरा देना और मजबूरी का रोना रोना अर्थ है, असह्य है ।

पू जीवाद का संरक्षण

हाँ, एक दृष्टि से मजबूरी की दुगई काम की है । वह पू जीवाद को संरक्षण दे सकती है, देती भी है । 'दू शिप' की

आडम पूजीवात् को क्लिबंदी' करने का अवसर मिलता है। एफ और कहा जाता है कि आवश्यकता में अधिक धन महंगा या धन संचय करना चोरी है, पर दूसरी ओर 'ट्रस्टी' का लेबिल (L. bel) लगाकर चोर को गुने-आम चोरी करने की छूट दे दी जाती है, उल्टि इतना ही नहीं, उसे समाज-सेवा की ठेकेदारी या 'ट्रस्टी' नाम का पद देकर गौरवान्वित भी किया जाता है। फिर, जहाँ समाजवादी-प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये अहिंसक माधनों की कड़ाई पर वे तरह चोर दिया जाता है, वहाँ दूसरी ओर धन संग्रह के माधनों के प्रति उपेक्षा दिखाई जाती है। आखिर, इसका क्या परिणाम हो सकता है ? भले ही नैर्दमानी से या गैर-कानूनी तौर पर, ब्लैक-मार्केटिंग या चोरी से, धन का संग्रह किया गया हो, पर वह धन 'ट्रस्ट' की सम्पत्ति धन सकता है। श्री० मधुपाला के ये शब्द इसी ओर इंगित करते हैं—“कॉई भी सम्पत्ति किसी व्यक्ति के अधिकार में हो या अनेक व्यक्तियों में बने किमी मडल के अधिकार में हो, और यह अधिकार उन्होंने उस समय के कानून के अनुसार पाया हो या गैर-कानूनी तौर पर पाया हो लेकिन वे उसे अपने पास निजी उपयोग के लिये नहीं उल्टि समाज की ओर में समाज के लिये ही रख सकते हैं अर्थात्, उन्हें व दूसरों को समझना चाहिये कि वे उस सम्पत्ति व 'ट्रस्टी' या मरसुक हैं।”* इस तरह चोर प्रचारी व रिश्वतखोरी करने वाला इन्कम टैक्स घटाने वाला रकमें गवन करने वाला, चोरी या बर्तनी करने वाला गरज यह है कि कम भा अनीतिपूर्ण उपायों से धन घटोरने वाला समाज में डाकू भी 'ट्रस्टी' की उपाधि से

विनष्ट हो सकता है, या यूँ कहिये कि वायाजीपिका में सम्पत्ति का धन 'द्वय' का विषय बन सकता है। कदा की आवश्यकता नहीं है कि हम 'द्वय' का क्या नैतिक मूल्य दें ? यहाँ तो सार-कारण पूँजीवाद व उसका सारे पापों का संरक्षण है।

प्रश्न—द्वय-विषय भीतरी सुधार का अपेक्षा रखना दे क्या स्वाभाविक नहीं। भीतरी सुधार ही सामाजिक सुधार है। मजदूरी में न्यून कर कोई व्यक्ति किसी काम को मान या आकर्षण करे, तो अन्तःकरण से वह प्रभावित न होगा और वह व्यक्ति मर्यादा ही होगा।

उत्तर—यहाँ तर्क भ्रम है। यह ठीक है कि भीतरी सुधार ही मर्यादा सुधार है। यह भी ठीक है कि मजदूरी में न्यून कर व्यक्ति किसी बात को मान या तन्मुख्य आकर्षण भी करे, तो अन्तःकरण से वह प्रभावित न होगा। पर यह सच ठीक है एक हद तक ही। भीतर और बाहर का निकटतम सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे का प्रभावित करते हैं। बाहर की परिस्थिति व आता-करण का व्यक्ति के मन पर प्रभाव पड़ता है, अन्तःकरण के सुधार का दृष्टि में रखकर भी समाज में आस नहीं मीची जा सकती। हम पहले यह आये हैं कि व्यक्ति अपनी जगह महसूसपूर्ण है, पर समाज भी तो आखिर व्यक्ति का ही प्रकाशित रूप है, वह व्यक्ति से पृथक् नहीं है। अतः व्यक्ति ने सुधार के लिये यह आवश्यक है कि समाज का सुधार हो। खराब हालातों में पढ़ कर मला आदमी भी दिग्गद जाता है। घुरी सगति में ध्वन की बात का यही तो अर्थ है कि अपने को दृष्टि

घातावरण में उचाया जाय । अतः वातावरण का शुद्धिकरण व्यक्ति की शुद्धि के लिये आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बाहरी दवाय भी भीतरी सुधार के लिये आवश्यक है । हाँ वह मही निशा में हो, उमरानरीका ठीक हो, वह उचित मर्यादा में हो यह मनकता जरूरी है । पर श्वाय ही न हो, यह आपद ह्य है, अनुचित है । अठिमा का भी तो अमर दोता ही है और हर अमर पर तरह का दवाय है । शुभ में श्वाय अरश्य गलेगा पर जब बड अपना लय निद्ध कर लंगा या जब वह व्यक्तित्व के भीतरी सुधार का, व्यक्ति की मनोवृत्ति व इष्टि उल्लन का, काम निरटा लेगा तब वही प्रिय घन जायगा । अय बाहरी श्वाय को गलत निशा म यहकने मे या मर्यादा का अतिक्रम करने म रोकन की यात श्म कह सकते हैं और कहना ही चाहिये, पर भीतरी सुधार के सुभावले म उमे रखर उमने तिरुद्ध कनवा नहा दे मरुते । श्म तो अन्याय करेगे । सत यह है कि भीतरी सुधार मे श्वायरी घातावरण उल्लने म महायता मिलती है और बाहरी दवाय या बाहरी घातावरण का शुद्धिकरण भीतरी सुधार करने मे महायक होता है । दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, महायक हैं अतः 'ट्रिप्लीशर' के समर्थन में जो भीतरी सुधार की इकतरका घात कही जाती है उसम कोई बजन नहीं है ।

प्रश्न—तो क्या आप समझते हैं कि अणुमिहरीदी आदर्श पूर्णतया व्यावहारिक है और उस अनु रूप समाज-व्यवस्था की स्थापना संभव है । यदि हाँ, तो क्या आप ऐसी समाज व्यवस्था की कुछ रूप रत्ता प्रस्तुत करग ?

उत्तर — आदर्श एक मानस चित्र या कल्पना है, एक लक्ष्य है और हमें जाने के लिए कदम-ब-कदम आगे बढ़ना व्यवहार है। इस अपेक्षा में हर आदर्श, यदि सचमुच वह ठोस या वास्तविक है तथा उसमें मनुष्य को आगे ले जाने का प्रेरणा स्रोत है, व्यवहार्य है। उससे व्यवहार्य होने के लिए वह आवश्यक नहीं है कि वह पूरी कल्पना साकार होने की क्षमता रखती हो। यदि व्यवहार्यता के इस दृष्टिकोण में आदर्श को नापा जायगा, तब तो आदर्श गिर जायगा। आदर्श अपने उच्चतम स्थात पर रहे और मनुष्य सदैव उसमें सत प्रेरणाएँ ग्रहण करता रहे, मनुष्य के विकास के लिए यह अनिवार्य है। आदर्श को लेकर ममकीना करना दृश्यूपन है। हा, आदर्श को स्वीकृत कर इतना ऊपर न उठाना चाहिए कि वह दृष्टि में ही ओभल हो जाय और एक बेदुगी अमश्रय या केरी हवाई कल्पना को आदर्श का आमन मिल जाय। पर एक उच्च विक्रामोन्मुख सजीव प्रेरणादायक व मार्ग-निर्देशक मन्व्य कल्पना अपरय भम्मानिय है। आदर्श और व्यवहार के सघर्ष की यहा कोई सम्भावना नहीं है। फिर, एक दम एक ही रंग में मंजिल तक पहुँच जाने का याह दृष्ट भी यहाँ नहीं है, बल्कि आदर्श मन्व्य लक्ष्य में रखते हुए साधना के मार्ग पर स्थिरता व दृढ़ता के साथ एक-एक कदम बढ़ाते हुए आगे बढ़ना ही यहाँ अदृष्ट है। आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि आदर्शवादी हो, व्यवहार की सीमाओं के बाह भी आदर्श कमी ओभल न हो, एक-एक कदम उठाते समय मंजिल सामने हो, व्यवहार मन्व्य निरचयो-मुक्ती हो, एक सजीव प्रेरणा, एक मन्व्य कल्पना, एक ऊँची भावना, एक मुलमी हुई विचार धारा, जीवन पथ के पग पग पर पथिक को आशाचित बनाए रखे और निरन्तर उत्साह से आँसूँ स्त्रोले, बुद्धि विप्रेक के उजाले में, आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करती रहे तथा जब भी शिथिलता आए, रातव कदम छुटे या ठोकर लगे, सभी आदर्श गिरते को सँभाले, नवशक्ति

वातावरण से उचाया जाय । अब वातावरण का शुद्धिकरण व्यक्ति की शुद्धि के लिये आवश्यक ही नहीं है, अनिवार्य है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बाहरी दुःख भी भीतरी सुख के लिये आवश्यक है । हाँ यह मही मित्रा में हो, उमरा तरीका ठीक हो, यह उचित मयादा में हो यह मनकर्मता जरूरी है । पर दवाव ही न हो, यह आमद हय है, अनुचित है । अहिंसा का भी तो असर होता ही है और हर अमर एक तरफ का दवाव है । शुरू में श्वाभ अरथ्य गलेगा पर जब यह अपना लक्ष्य मित्त कर लगा या जब वह पत्रितात्व के भीतरी सुधार का, व्यक्तित्व की मनोवृत्ति व इष्टि प्रबलन का, काम निरटा लेगा तब यही प्रिय बन जायगा । अब बाहरी श्वाभ को गलत मित्रा में रहकने से या मर्यादा का अतिक्रम करने से रोकने की बात हम कह सकते हैं और वहना ही चाहिये, पर भीतरी सुधार के सुफल में उसे रक्तर रमने गिरुद्ध बनवा नहीं से सकते । ऐसा ना अभ्यास करेगे । अब यह है कि भीतरी सुधार से शारी वातावरण प्रबलने से महायता मिलती है और बाहरी दुःख या बाहरी वातावरण का शुद्धिकरण भीतरी सुधार करने में महायक होता है । दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, सदायक हैं अतः 'टस्नीशिश' के समर्थन में जो भीतरी सुधार की इकारफा बात रही गयी है उसमें कोई वचन नहीं है ।

प्रश्न—तो क्या आप समझते हैं कि अपग्निहवादी आदर्श पूर्णतया व्यावहारिक है और उस अनुकूल समाज-व्यवस्था भी स्थापना समभव है । यदि हाँ, तो क्या आप ऐसी समाज व्यवस्था की कुछ रूप रत्ता प्रस्तुत करगें ?

वनोपार्जन न हो, व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुरूप समाज की अधिक से अधिक सेवा कर तथा समाज हर व्यक्ति को उस को आवश्यकताओं के अनुरूप सुविधाओं व सामग्रियों उपलब्ध करे, पूर्ण आरोग्य व स्वास्थ्य के सभी कुत्सित रूप निषिद्ध हो, कोई रोगी व विकार न हो, कोई शरीर धधकने की मजबूरी न हो, कोई ईमान धरने के लिए असहाय न हो, कोई आकाशवाणी या भुक्तमरी का शिकार न हो, कोई किसी पर भार न हो । इस तरह अपरिमहवाद् की आधारभूत आवश्यकताओं का सामना रखकर, समाज व समाज विरोध की परिस्थितियों व परम्पराओं की अपेक्षा से अपरिमहवाद् की व्यवस्था की मूर्तिमत किया जा सकता है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह व्यवस्था मानव-जीवन के अनुरूप परिस्थितियों की अपेक्षा से सदैव परिवर्तनशील व विकसित रहेगी, यद्यपि समस्त वास्तविक परिवर्तनों की वह में अपरिमहवाद् की मूलधार अनुसृत रहती ही ।

मानव-दृष्टि

मनुष्य तो यह है कि अपरिमहवाद् या समाज में अधिक एक 'दृष्टि' है और यह दृष्टि अपनी विविध अपेक्षाओं में अपरिमहवाद् की एक सम्पूर्ण जीवन-दरान के रूप में लेखनी है । उसे केवल आर्थिक दृष्टि या केवल आध्यात्मिक, तो यह भूल है । इस का परलक्ष भी है और सामाजिक भा । क्या धन का वितरण का वितरण, अपरिमहवाद् के लिए हर क्षेत्र में । वह राजमत्ता को किसी एक व्यक्ति में या कुछ क्षेत्रों में सीमित रखने का विरोधी है । वह किसी भी व्यक्ति को शक्ति का माध्यम करने के लिये तय्यार नहीं करता । वह शक्ति का तथा निजहित व परहित का पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त को गुलाम बनाना चाहता है और

व स्मृति का संचार करे, नया प्राण फूँके और आवश्यक हो तो लल-
 कारे, चुनौती दे, और परिणामतः पथिक को मजिल की ओर ले
 जाए। व्यवहार एक घोड़ा है जो जीवन के पथ पर दौड़ रहा है और
 आँश उसकी लगाम है। पर वह लगाम ही नहीं है जो गलत
 रास्ते पर जाने से रोकें, वह चानुक भी है जो निरन्तर उसे
 मजिल की ओर बढ़ने का, बढते रहने का, आदग देता है। यहाँ
 साहस की जगह पैठा है विकर। जब भी व्यवहार की गति धिगह-
 ती है विवेक आँश का महाराज नेता है। प्रगति या विकास का यही
 नियम है। इस नियम की अपेक्षा से निरचय ही अपरिमहवादी
 आदर्श व्यावहारिक है और उसमें अनुरूप समाज व्यवस्था की
 स्थापना संभव है, ठीक उसी तरह जिस तरह मग, जो निरन्तर
 एक जीवित आदर्श है, व्यवहारिक है। रह जाता है प्रगति अपरिमहवादी,
 समाज-व्यवस्था की रूप रेखा का, सो इस बार में समाज विशेष
 की परिस्थितियाँ व विशेषताओं को, उसकी आवश्यकताओं, परम्प-
 राओं व भावनाओं को, दृष्टि में रखकर ही कोई रूप रेखा बनाई जा
 सकती है। हा, उस रूप-रेखा के मूल तत्व समझे जा सकते हैं और
 तब वर्तमान परिस्थितियों के साँचे में उन्हें फिट (fit) किया जा
 सकता है। इन मूल तत्वों के विषय में हम पहले कह चुके हैं, और
 उस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपरिमहवादी समाज-व्यव-
 स्था में वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए स्थान न हो, समस्त सम्पत्ति,
 समाज का हो और समाज के लिए ही उस का उपयोग हो,
 व्यक्ति की गौरव गरिमा अलुण्ण रहते हुए तथा व्यक्ति के विकास के
 लिए पूरा क्षेत्र उहा होने हुए व्यक्ति सच्चे अर्थों में समाज की इकाई
 हो वही समाज का घटक या निर्माता हो पर उसका व्यक्तित्व घुड़
 समाज व्यक्तित्व का अंग मात्र हो, धन या उत्पादन श्रम पर
 आधारित हो, श्रम की निष्ठा अलुण्ण हो, धनोपार्जन श्रम कर्षण का
 प्रसाद हो, यह शोषण अथवा धन डारा पूँजीवादी व हिंसामय

व स्मृति का संचार करे, तथा प्राण फूँके और आवश्यक हो, तो लल-
 कारे, चुनींती दे, और परिणामतः पथिक को मंजिल की ओर ल-
 लाए। व्यवहार एक घोड़ा है जो जीवन के पथ पर दौड़ रहा है और
 आदर्श उसकी जगाम है। पर वह लगाम ही नहीं है जो सलत
 रास्ते पर जाने से न रोके, वह चायुक भी है जो निरन्तर उसे
 मंजिल की ओर बढ़ने का, बढ़त रहने का, आदेश देता है। यहाँ
 साहस की जगह रूँठा है त्रिक। जब भी व्यवहार का गति विगड़-
 ती है विवेक आर्ज का सहारा लेता है। प्रगति या विकास का वही
 नियम है। इस नियम का अपेक्षा से निश्चय ही अपरिमहवादी
 आदर्श व्यावहारिक है और उससे अनुरूप समाज-व्यवस्था की
 स्थापना संभव है, ठीक उमी तरह जिम् तरह मन्थ, जो निःसन्देह
 एक जायित आदर्श है, व्यवहारिक है। रह जाता है प्रश्न अपरिमहवादी
 समाज-व्यवस्था की रूप रेखा का, जो इस धार में समाज विशेष
 की परिस्थितियाँ व विशेषताओं को, उनकी आवश्यकताओं, परम्प-
 राओं व भावनाओं को, दृष्टि में रखकर ही कोई रूप रेखा बनाई जा
 सकती है। हाँ, उस रूप-रेखा में मूल तत्व समझे जा सकते हैं और
 इन वर्तमान परिस्थितियों के साँचे में उन्हें फिट (fit) किया जा
 सकता है। इन मूल तत्वों के विषय में हम पहिल कह चुके हैं, और
 उस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपरिमहवादी समाज-व्यव-
 स्था में वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए स्थान न हो, समस्त सम्पत्ति
 समाज की हो और समाज के लिए ही उस का उपयोग हो,
 व्यक्ति की गौरव गरिमा अनुष्ण रहते हुए तथा व्यक्ति के विकास के
 लिए पूरा क्षेत्र रहा होते हुए व्यक्ति सच्चे अर्थों में समाज की इकाई
 हो वही समाज का घटक या निर्माता हो पर उसका व्यक्तित्व घृष्ट
 समाज व्यक्तित्व का अंग मात्र हो, धन का उत्पादन भ्रम पर
 आधारित हो, धन का निष्ठा अनुष्ण हो, धनोपार्जन भ्रमकों का
 प्रसाद हो, वह शोषण अथवा धन द्वारा पूँजीवादी व हिंसामय

घनोपार्जन न हो, व्यक्ति अपनी योग्यता के 'अनुस्यू समाज की अधिक से अधिक सेवा करे तथा समाज हर व्यक्ति को उस की आवश्यकताओं के अनुस्यू सुविधाओं व मामयियों उपलब्ध करे, पू जी-यादी व्यवस्था के सभी सुविधायक रूप निरूपित हों, कोई टाली व देकार न हो, कोई जरीर बेचने की मजबूरी म न हो, कोई इमान बेचने के लिए असहाय न हो, कोई जाँझकरी या भुलमरी का गिकार न हो, कोई हिमी पर भार न हो । इस तरह अपरिमहयाद की आवार मूठ आवश्यकताओं का सामने रराकर, समाज र ढेग विगेष की परिस्थितियों व परम्पराओं अरि की अपेक्षा से अपरिमहयाद व्यवस्था को मूर्तिमंत दिश जा सकता है । यह बहने की आवश्यकता नहीं है कि यह व्यवस्था मानव-जीवन के अनुस्यू परिस्थितिया की अपेक्षा से सदैव परिवर्तनशील व विनामशील रहेगी, यद्यपि ममस्त यात्र परिवर्तनों की तह में अपरिमहयादी मूलधार अखुण्ण रहेगी ही ।

मानव-दृष्टि

मच तो यह है कि अपरिमहयाद यात्र में अरि एक एक 'दृष्टि' है और यह दृष्टि अपनी विविध अपेक्षाओं म अपरिमहयाद का एक सम्पूर्ण जीवन-र्रान के रूप म देखती है । उसे केवल आधिक समझ जाय या केवल आध्यात्मिक, तो यह भूल है । इस का राजनैतिक पहलू भी है और सामाजिक भी । क्या धन का वितरण और क्या राजमत्ता का वितरण, अपरिमहयाद के लिए हर क्षेत्र म विषमता अमय है । वह राजमत्ता को किसी एक व्यक्ति म या कुछ व्यक्तियों व परिवार में सीमित रखने का विरोधी है । वह विमा भी तरह की इजारादारी या ठेकगरी का माय करन के लिय तय्यार नहीं है । उसे व्यष्टि व समष्टि का तथा निजहित व परहित का पारस्परिक समन्वय अभीष्ट है । न यह व्यक्ति को गुलाम बनाना चाहता है और

न व्यक्ति की स्वतंत्रता को इनना अमर्यादित देखना चाहता है कि व्यक्ति दूसरा को कमांड्रू हडपे, शोषण करे, दूसरों को गुलाम बनाए। व्यक्ति की स्वतंत्रता को यह यहीं तक सीमित रखना चाहता है कि दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े। यह चाहता है कि सब को समान अवसर मिले जिस में हर व्यक्ति हर प्रकार से विकास करे। गरज यह कि यह जीवन के सभी प्रश्नों पर अपना मत रखना है और अपनी विचारदृष्टि से समस्त समस्याओं को हल करना चाहता है। यह न साम्यवाद की तरह अर्थवाद की अति से पीड़ित है और न माधोवाद की तरह अध्यात्मवाद की अति में स्थित है। यह एक निष्पक्ष व निर्वाण दृष्टि है, यह एक विशुद्ध मानव दृष्टि है।

* समाप्त *

